हिन्दी कविता : तीन दशक

काव्यकृति : आधुनिक हिन्दी

ज्ञानभारती प्रकाशन

171
A152

हिन्दी कविता : तीन दशक

Hindi Kavita Teen Dashak.

डॉ० रामदरश मिश्र

Dr. Ramdarsh, Meser

SPS
891.431 R 17 H
32794

प्रकाशक
ज्ञानभारती प्रकाशन
सी-८, मॉडल टाउन, दिल्ली-९

Ganbarti Prakashan.
C. 8, Mundal Town Delhi-9

क्रम पृष्ठ संख्या

१. एक सर्वेक्षण १
२. छायावाद २८
३. व्यक्तिवादी गीत कविता ४१
४. राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता ५६
५. प्रगतिवाद ७३
६. प्रयोगवाद और नयी कविता ६१
७. नये प्रबन्धकाव्य १४१
८. नये गीत १८१
६. आज की क़विता १६७

१

एक सर्वेक्षण

१. एक सर्वेक्षण

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी अपने लेखन कार्य में निरन्तर सक्रिय रहे हैं। १९३८ के बाद उनकी जो ४ प्रमुख काव्य कृतियां प्रकाश में आईं, वे हैं 'नहुष', 'कुणाल गीत' 'अजित' और 'जयभारत'। ये सभी प्रबंध काव्य हैं। 'नहुष' (१९४०) में राजा नहुष की कथा प्रस्तुत की गई है। 'कुणालगीत' (९१४१) अशोक के पुत्र कुणाल के जीवन से सम्बद्ध काव्य है। 'अजित' (१९४६) कारावास की स्मृति में लिखा गया काव्य है जिसमें कारावास का वातावरण ध्वनित है। कवि के शब्दों में इसमें वर्णित अनेक घटनाएँ सच्ची हैं। 'जयभारत' (१९५२) में महाभारत की सम्पूर्ण कथा का समावेश किया गया है। कवि ने इस प्रबन्ध काव्य में महाभारत की कथाओं को अपने ढंग से स्फीति और संक्षिप्ति देकर अभिप्रेत प्रभाव पैदा करने का प्रयत्न किया है।

माखनलाल चतुर्वेदी

इस अवधि में चतुर्वेदी जी की ३ प्रमुख काव्य पुस्तकें प्रकाशित हुईं। तीनों ही उनकी फुटकल कविताओं के संग्रह हैं। 'हिमकिरीटनी' (१९४१) में ४४ कविताएं संगृहीत हैं। इन कविताओं के स्वर दो प्रकार के हैं। कुछ कविताओं में आध्यात्मिक रहस्यवाद की गूंज है, कुछ में राष्ट्रीय चेतना की पुकार 'हिमतरंगिनी' (१९४८) में भी मूलतः काव्य स्वर वही है जो 'हिमकिरीटिनी' में है। 'माता' (१९५१) में ५६ कविताएं संगृहीत हैं। इसका प्रधान स्वर राष्ट्रवादी है। इसमें ओज, त्याग, बलिदान से भरा हुआ यौवन मुखर है। 'समर्पण' (१९५६) तथा 'युग चरण' (१९५६) इनकी विविध स्वरों वाली कविताओं के संग्रह हैं।

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीन के काव्य में तीन स्वर लक्षित होते हैं—राष्ट्रवाद का स्वर, रहस्यवादी स्वर और प्रेम तथा सौंदर्य एवं तज्जन्य थकान और उल्लास का स्वर। उनकी भिन्न-भिन्न कृतियों में ये ही स्वर भिन्न-भिन्न अनुपात में दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार की कविताओं के ३ संग्रह—'रश्मिरेख', 'अपलक' तथा

'क्वासि' इस बीच प्रकाशित हुए तथा 'विनोवा स्तवन' नाम से एक चौथी कृति भी सामने आई। 'रश्मिरेख' (१९५१) कवि के ५७ गीतों का संग्रह है। इसमें मुख्यतः मानव प्रेम और सौन्दर्य तथा प्रकृति-छवि की अभिव्यक्ति है। 'अपलक' (१९५१) में ५२ कविताएं संगृहीत हैं जिनमें मुख्यतः प्रेम और थकान का स्वर है। 'क्वासि' (१९५२) की कविताएं भी इसी क्रम की हैं। इन दोनों संग्रहों में कुछ राष्ट्रीय कविताओं का भी समावेश है। 'विनोवा स्तवन (१९५३) में विनोबा के सिद्धान्तों और चरित्र के चित्रण के माध्यम से गांधीवादी आदर्शों की प्रतिष्ठा की गई है। 'हम विषपायी जनम के' (१९६४) उनकी कविताओं का श्रेष्ठ प्रतिनिधि संग्रह है।

सियारामशरण गुप्त

इस बीच इनकी ६ कृतियां सामने आईं। 'उन्मुक्त' (१९४०) एक खंडकाव्य है जिसका कथानक काल्पनिक है। इसमें युद्ध की विभीषिका, यातना और शांति की समस्या का बड़ा ही संवेदनपूर्ण चित्रण हुआ है। दैनिकी' (१९४२) फुटकल कविताओं का संग्रह है जिसमें आधुनिक जीवन की अभाव-ग्रसित अवस्था चित्रित है, साथ ही गांधीवादी दृष्टि से एक ऐसे समाज की रचना की ओर संकेत किया गया है जिसमें मानवता का सौन्दर्य विकसित हो सके। 'नकुल' (१९४६) एक प्रबंध काव्य है। इसका आधार महाभारत का वन पर्व है किन्तु रचयिता ने मूलवस्तु का उपयोग स्वतन्त्रता से किया है। 'नोआखाली' (१९४६) में गांधी जी की नोआखाली यात्रा के माध्यम से हिन्दू-मुसलिम कलह तथा उसके मानवतावादी समाधान का चित्रण है। 'जयहिन्द' (१९४८) में कवि की राष्ट्रीय कविताएँ हैं। 'आत्मोत्सर्ग' (१९४७) हिन्दू-मुसलिम एकता के लिए प्रयास करने वाले स्वर्गीय श्री गणेशशकर विद्यार्थी के आत्मोत्सर्ग से सम्बद्ध खंड काव्य है। 'गोपिका' (१९६३) इनका प्रबंध काव्य काव्य है। इसमें अपार्थिव मधुर भाव की अभिव्यक्ति की गयी है।

सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी इस अवधि में छायावादी काव्य-परम्परा में उच्चकोटि का सृजन तो करते ही रहे, साथ-ही-साथ लोक जीवन के प्रति अधिकाधिक उन्मुख होकर 'कुकुरमुत्ता', 'अणिमा' 'बेला' 'नये पत्ते' जैसी कविता पुस्तकें लिखीं। 'तुलसीदास' 'कुकुरमुत्ता' 'अणिमा' 'बेला' 'नये पत्ते' 'अर्चना' और 'आराधना' इस बीच की इनकी ये ७ कृतियां हैं। 'तुलसीदास' (१९३८)

एक प्रबंध काव्य है। कवि तुलसीदास इसके नायक हैं। इसमें तुलसीदास एक संस्कृति-नेता के रूप में प्रस्तुत किये गये हैं। वे भारत की सामाजिक और सांस्कृतिक दासता से पीड़ित होकर देश के उद्धार का संकल्प लेते हैं। 'कुकुरमुत्ता' (१९४२) एक रूपक काव्य है जिसमें गुलाब और कुकुरमुत्ता के माध्यम से शोषक अभिजातवर्ग और स्वावलंबी, श्रमशील तथा उपेक्षित जनसामान्य के जीवन-सम्बन्धों को दिखाया गया है। 'कुकुरमुत्ता' में कुकुरमुत्ता के अतिरिक्त 'गर्म पकौड़ी' 'प्रेम संगीत' 'रानी और कानी', 'खजोहरा', 'मास्को डायलाग्ज' तथा 'स्फटिक शिला' जैसी अन्य ६ प्रगतिशील कविताएं संगृहीत हैं। 'अणिमा' (९४३) में ४५ गीत और गीतेतर कविताएं हैं। इन कविताओं में विषय का वैविध्य है। एक ओर स्वानुभूति परक गीत हैं तो दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानंद जी, संत रविदास जी, प्रसाद जी बुद्ध आदि विविध क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएं हैं। 'कुकुरमुत्ता' की कविताओं में लोकसंपृक्ति का जो स्वर दिखाई पड़ा वह क्रमशः उभरता ही गया और वह अणिमा, बेला, नयेपत्ते, अर्चना, आराधना सभी में भिन्न-भिन्न रूपों में और भिन्न-भिन्न अनुपात में लक्षित होता है। 'वेला' (१९४३) में १११ कविताएँ हैं—गीत भी हैं और गीतेतर कविताएँ भी। इनमें लोक छन्द, लोक-भाषा और सामाजिक भाव भूमि की ओर विशेष उन्मुखता दिखाई पड़ती है। 'नयेपत्ते' (१९४६) की २८ कविताओं में कुछ वे कविताएं भी हैं जो 'कुकुरमुत्ता' में आ चुकी थीं। कुछ कविताएँ लोककथात्मक तथा संवादात्मक शैली में है। 'अर्चना' (१९५०) में १२८ गीत हैं। ये गीत कई तरह के हैं। इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थना-परकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएं भी इनमें अभिव्यक्त हुई हैं। 'आराधना' (१९५३) में ९६ गीत हैं। इनमें भी 'अर्चना' के गीतों का स्वर वैविध्य है। जीवन के अलौकिक संवेदनों के चित्रण के साथ ही साथ अलौकिक सत्ताओं के प्रति कवि की समर्पण भावना का भी अंकन है।

सुमित्रानन्दन पन्त

१९३८ के बाद पन्त जी की कृतियां क्रमशः प्रगतिवादी (मार्क्सवादी) और अरविन्दवादी दर्शन से प्रभावित होकर सर्जित हुईं। 'युगवाणी' और 'ग्राम्या' प्रगतिवादी काव्यकृतियां हैं। 'युगवाणी' (१९३९) में कवि की वे कविताएँ संगृहीत हैं जिनमें उसने मार्क्सवादी दृष्टि से नये युग की वास्तविकताओं को देखा है और वाणी दी है। इस अवधि में इनकी लगभग ८ काव्यकृतियां

सामने आईं। 'ग्राम्या' (१९४०) में कवि मार्क्सवादी दृष्टि लेकर गांव के जीवन की ओर गया है और उसके विविध पक्षों को बड़ी सहानुभूति से देखा है। 'स्वर्णकिरण' (१९४७) में कवि पुनः नया मोड़ लेता है—वह भौतिकवाद और अध्यात्मवाद का समन्वय करना चाहता है। उसे यह समन्वय अरविन्द-वाद में लक्षित होता है। 'स्वर्णकिरण' में ऐसी कविताओं के दर्शन होते हैं। 'स्वर्णधूलि' (१९४७) की कविताएँ भी इसी क्रम की हैं। 'शिल्पी' (१९५२) में कवि के ३ काव्य-रूपक संगृहीत हैं। इनमें कवि के शब्दों में वर्तमान विश्वसंघर्ष को वाणी देने के साथ ही नवीन जीवन-निर्माण की दिशा की ओर इंगित करने का प्रयत्न किया गया है। 'उत्तरा' (१९५५) 'अतिमा' (१९५५) 'कला और बूढ़ा चांद' (१९५९) में पंत जी की येही परवर्ती प्रवृत्तियां लक्षित होती हैं। 'कला और बूढ़ा चांद' में कहीं कहीं नयी कविता का सा स्वर दिखाई पड़ता है। 'लोकायतन' (१९६४) इनका महाकाव्य है। 'चिदंबरा' इनकी कुछ विशिष्ट पूर्व प्रकाशित कृतियों का संग्रह है।

महादेवी वर्मा

इस बीच महादेवी जी की केवल १ काव्य कृति आई—'दीपशिखा'। 'दीपशिखा' (१९४२) में ५१ गीत संगृहीत हैं तथा आरम्भ में कवयित्री द्वारा लिखित ६५ पृष्ठों की भूमिका है जिसमें काव्य की सैद्धांतिक विवेचना है। इन गीतों में कवयित्री के मूल स्वर विषाद के गहरे रंग के भीतर से कहीं-कहीं उल्लास और आशा का हलका-हलका रंग भी उभरा है।

रामधारी सिंह 'दिनकर'

'दिनकर' राष्ट्रीय सांस्कृतिक चेतना और व्यक्तिगत सौन्दर्य-प्रेम-मूलक संवेदना दोनों के सक्षम कवि हैं अतः इनके ाव्यों में संवेदना और चिन्तन दोनों का सुन्दर संयोग दिखाई पड़ता है। इस बीच इनकी ११ कृतियां आईं। 'हुंकार' (१९३.) २९ कबिताओं का संग्रह है। इन कविताओं में राष्ट्र की ओजमयी चेतना की बड़ी सहज अभिव्यक्ति है। 'द्वन्द्वगीत' (१९३९) में ११५ रुबाइयां संगृहीत हैं। ये रुबाइयां स्वतन्त्र हैं किन्तु कहीं-कहीं एक-दूसरे से जुड़ी हुई भी हैं। इनमें कवि ने जगत-जीवन सम्बन्धी कुछ नये विचार व्यक्त किये हैं जो सर्वथा सर्वत्र उसके संवेदन से स्पंदित हैं। कहीं-कहीं द्वन्द्वात्मक जीवन-सत्यों की भी अभिव्यक्ति है। 'रसवंती' (१९४०) में २९ कविताएँ संगृहीत हैं। अधिकांश कविताएँ गीत के रूप में हैं। बहुत-सी कविताएँ प्रेम-

सौन्दर्य-मूलक हैं। प्रकृति, देश-प्रेम और कुछ अन्य विषयों से भी सम्बन्धित कविताएँ हैं। 'कुरुक्षेत्र' (१९४६) विचार-सूत्रों से सम्बद्ध एक प्रबन्ध काव्य कहा जा सकता है। इसमें महाभारत की एक छोटी-सी कथा अपने ढंग से ग्रहण की गई है। महाभारत के युद्ध के पश्चात् युधिष्ठिर युद्ध में होने वाले नर-संहार के कारण बहुत दुखी होते हैं, आत्म-ग्लानि से तपते हैं और पितामह के पास जाते हैं। पितामह युद्ध की अनिवार्यता की परिस्थितियों और कारणों पर प्रकाश डालते हुए युधिष्ठिर को निर्दोष बताते हैं और अन्याय के प्रतिकार के लिए युद्ध को अनिवार्य बताते हैं। धर्मराज और पितामह के संवादों के माध्यम से कवि ने आज के विश्व में व्याप्त युद्ध और शान्ति के स्वर पर विचार व्यक्त किए हैं। 'इतिहास के आंसू' (१९५१) में कवि की दस ऐतिहासिक कविताएँ संगृहीत हैं। इसमें कुछ कविताएं नई हैं, अधिकांश अन्य संग्रहों में संगृहीत हो चुकी हैं। 'रश्मिरथी' कर्ण के जीवन पर आधारित प्रबन्ध काव्य है। 'धूप और धुआं' (१९५१) स्वराज्य प्राप्ति के फलस्वरूप प्राप्त होने वाले आशा और विषाद के स्वर को व्यक्त करता है। 'दिल्ली' (१९५४) में दिल्ली सम्बन्धी कुछ कविताएँ हैं। 'नीम के पत्ते' में देश की समकालीन जिन्दगी को कवि ने रूपायित करना चाहा है। 'नील कुसुम' (१९५४) कवि की परंपरित भाव धारा में ही आने वाला एक नया संग्रह है। 'उर्वशी' (१९६१) कवि का बहु प्रशंसित प्रबन्ध काव्य है जिसमें पुरूरवा और उर्वशी की कथा को आधार बनाया गया है।

उदयशंकर भट्ट

भट्ट जी दृष्टि और शिल्प की दृष्टि से छायावादी हैं परन्तु प्रेम उनका मुख्य विषय नहीं रहा। वे जीवन के विविध विषयों और सत्यों को व्यक्त करने का प्रयत्न करते रहे। विषय की दृष्टि से ये द्विवेदी कालीन कविता छायावादी कविता और प्रगतिवादी कविता तीनों के क्षेत्र में 'संचरण' करते दीखते हैं। 'राका', 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला चलो रे' और 'विजय' इस अवधि की इनकी ८ काव्य-कृतियां हैं।

हरिवंशराय बच्चन

बच्चन जी का प्रायः सारा महत्त्वपूर्ण कृतित्व १९३८ के बाद ही प्रकट हुआ। इस बीच इनकी लगभग १३ पुस्तकें आईं। 'निशा निमन्त्रण'

(१९३८) के १०० गीतों में विरह-जन्य विषाद को रात के विविध चित्रों के माध्यम से उभारा गया है। ये सभी गीत हैं। 'एकांत संगीत' (१९३९) में कवि के १०० गीत हैं। इन गीतों में कवि के अकेलेपन और निजी हर्षविषाद, असंतोष तथा निराशा का चित्रण है। 'आकुल अन्तर' (१९४३) के ७१ गीतों में कवि ने आत्मानुभव के आधार पर विविध जीवन-सत्यों की व्यंजना की है। 'सतरंगिनी' (१९४५) में सात खंड हैं। प्रत्येक खंड में सात कविताएँ हैं। प्रवेश गीत में एक कविता है। इस संग्रह में आशा के खुले हुए लोक में कवि की यात्रा है। नाश के स्थान पर निर्माण का, रुदन के स्थान पर गीत का, मुसकान का, संशय के स्थान पर विश्वास का स्वर प्रधान हो उठा है। 'बंगाल का काल' (१९४६) एक लम्बी कविता है जिसमें १९४३ में पड़े हुए भीषण बंगाल के काल की विभीषिकाओं और उनसे उत्पन्न कवि मन की प्रतिक्रियाओं का ओजस्वी चित्र है। यह कविता जगह-जगह तुकांत होकर भी मूलतः मुक्त छन्द में है। 'सूत की माला' (१९४८) में १११ कविताएँ हैं। यह काव्य गांधीजी की मृत्यु से आरम्भ होता है तथा उनके जीवनादर्श और चरित्र के अनेक पहलुओं को अभिव्यक्ति देता है। 'मिलनयामिनी' (१९५०) में ९९ कविताएँ हैं। इसके तीन भाग हैं, प्रत्येक भाग में ३३ कविताएँ हैं। ये सभी गीत हैं और इनमें प्रकृति के मोहक चित्रों के बीच प्रेम की मस्ती और सौंदर्य की मादकता को अंकित किया गया है। 'प्रणय-पत्रिका' (१९५५) में पत्रिका के रूप में लिखे गये विरह के गीत हैं। 'बुद्ध और नाच घर' (१९५९) 'त्रिभंगिभा' (१९६१), 'चार खेमे चौसठ खूंटे' (१९६२), 'दो चट्टानें' (१९६५), 'बहुत दिन बीते' (१९६७) इनकी इधर की काव्य-कृतियां हैं। इन कृतियों में बच्चन एकदम बदले हुये हैं। इनमें या तो लोक धुनों पर आधारित गीत हैं या सामाजिक संदर्भों की कविताएं, जो मुक्त छन्द में हैं।

नरेन्द्र शर्मा

शर्मा जी उत्तर छायावादी व्यक्ति-परक कविता-धारा के विशिष्ट कवि हैं। इनमें तीव्र रूमानी संवेदना के साथ ही साथ सांस्कृतिक और सामाजिक स्वर भी दिखाई देता है जो इनकी बाद की कविताओं में उत्तरोत्तर उभरता गया। इस बीच इनकी ९ काव्य-कृतियां आईं। 'प्रभातफेरी (१९३९) में ७७ कविताएं संगृहीत हैं, सभी गीत हैं। प्रकृति-सौन्दर्य, प्रेम, राष्ट्रीयता और संस्कृति के स्वर से स्पंदित इस संग्रह में 'भिखारिन' 'कंगाल' जैसी सामाजिक विषमता से प्रेरित कविताएं भी हैं। 'प्रवासी के गीत' (१९३९) में ५३ विरह-

गीत हैं, विरह की अनेक स्थितियों को बहुत सहज ढंग से गाया गया है। 'पलाशबन' (१९४०) की ४३ कविताओं में अधिकांश गीत हैं। इन कविताओं के स्वर में वैविध्य, खुलापन और प्रसन्नता है। इनमें सौन्दर्य के अनेक रूप-रंग उभरे हैं। 'मिट्टी और फूल, (१९४२) में ७१ कविताएं हैं। गीत-प्रधान इस संग्रह में कुछ गीतेतर कविताएं भी हैं। प्राकृतिक सौन्दर्य, मानव सौन्दर्य तथा प्रणय को वाणी देने वाले इस संग्रह में 'युवक क्लर्क' जैसी कुछ प्रगतिशील कविताएं भी हैं। कवि इसमें अपने अन्तः संघर्ष (बुद्धि और भावुकता के द्वन्द्व) की प्रधानता मानता है। 'कामिनी' (१९४२) एक गीतकथा है जिसमें मिलन, विरह, पुनर्मिलन का चित्रण हुआ है। 'अग्निशस्य' (१९५१) की ८० कविताओं में कवि की 'मिट्टी और फूल' की ही विशेषताएं लक्षित होती हैं। हाँ, प्रगतिवादी स्वर कुछ अधिक उभरा है। 'कदलीवन' (१९५३) में ७० कविताएं संगृहीत हैं। सभी प्रगतिशील हैं। 'द्रौपदी' और 'उत्तरजय' प्रबन्ध काव्य हैं। 'प्यासा निर्झर' और 'बहुत रात गये' इनके नवीनतम काव्य संग्रह हैं।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

'अंचल' ने अपने तीव्र रूमानी संवेदन को लेकर अपने अंतर की यात्रा तो की ही है समाज में भी घूमे हैं। इसलिए इनके सामाजिक काव्यों में भी इनकी रूमानी संवेदना की ही प्रधानता है। इस अवधि में कवि के ५ काव्य-संग्रह आये। 'मधूलिका' (१९३८) में मूलतः कवि की मांसल, उद्दाम शृंगारानुभूति ही व्यक्त हुई है किन्तु कुछ कविताओं द्वारा कवि के सामाजिक, प्रगतिशील बोध (जिसका उभार बाद में हुआ) का संकेत मिलता है। 'अपराजिता' (१९३९) की भावभूमि भी वही है जो 'मधूलिका' की है। हाँ, विकास जरूर लक्षित होता है। 'किरणवेला' में मुख्यतः प्रगतिशील कही जाने वाली कविताएं हैं। 'करील' भी 'किरणवेला' के ही क्रम का काव्य संग्रह है। 'लाल चूनर' (१९४४) में प्रगतिशीलता से पुनः व्यक्तिवादिता की ओर लौटने उपक्रम है। कहा जा चुका है कि अंचल तथा अन्य व्यक्ति परक कवि मूलतः शृंगारिक संवेदना के कवि हैं, वे शौकिया तथा व्यक्तिवादी आवेश लेकर प्रगतिवाद की ओर आये थे परन्तु सभी देर सवेर अपनी मूल संवेदना की ओर लौट गये। 'वर्षान्त के बादल' (१९५४), में भी प्रकृति सौन्दर्य और प्रणय की कविताएँ हैं। इसी क्रम में इनका काव्य संग्रह 'विराम चिह्न' (१९५८) भी है।

केदारनाथ मिश्र प्रभात

'कालदहन' और 'कैकेयी' इस अवधि की इनकी ५ मुख्य कृतियाँ हैं। प्रभात जी मुख्यत: प्रबंधकार हैं और अपनी कृतियों में राष्ट्रीय संस्कृति को वाणी देने का प्रयत्न करते हैं। 'काल दहन' (१९४९) गीति नाट्य है। 'कैकेयी' (१९५१) प्रबंध काव्य है। इसमें कैकेयी के चरित्र को नये रूप में रखा गया है। वह इस प्रबंध में स्वार्थिनी विमाता नहीं है वरन् एक सच्ची माता है। तप्त गृह (१९५४) भी एक प्रबंध काव्य है जिसमें बिम्बसार और अजात शत्रु की ऐतिहासिक कथा को आधार बनाया गया है। 'ऋतंवरा' (१९५७) भी एक प्रबंध काव्य है, इसमें मनु और शतरूपा कथा के आधार हैं। 'कर्ण' कर्ण के जीवन पर आधारित प्रबंध काव्य है।

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन 'अज्ञेय'

'अज्ञेय' की कविताओं का प्रारम्भ होता है रूमानी संवेदना से किन्तु क्रमश: वे रूमानी धारा से अपने को अलग करते गए तथा प्रयोगवाद के रूप में हिन्दी कविता को प्राप्त होते हुए नये मोड़ का संवर्द्धन तथा नेतृत्व किया। 'तारसप्तक' (१९४३) इनके द्वारा संपादित सात कवियों की उन कविताओं का संकलन है जिनमें क्रमागत काव्यधारा से अलग नये प्रयोग उभर रहे थे। इन कवियों के विषय, विश्वास और दृष्टिकोण अलग अलग थे किन्तु सभी नये सत्य की खोज और नये शिल्प के प्रयोग के कारण एक ओर परंपरागत काव्यधारा से अपने को अलग करते दीखते हैं दूसरी ओर एक मंच पर एकत्र होने की सार्थकता प्राप्त करते हैं। इस संकलन के कवि हैं गजानन माधव मुक्तिबोध, नेमिचन्द्र जैन, भारतभूषण अग्रवाल, प्रभाकर माचवे, गिरिजा कुमार माथुर, रामविलास शर्मा और अज्ञेय। इस संकलन से ही प्रयोगवाद का आन्दोलन आरम्भ होता है। 'इत्यलम्' (१९४५) कवि की १२९ कविताओं का संग्रह है। इसे ५ भागों में बांटा गया है – भग्नदूत, बन्दी स्वप्न, हिय हारिल, वंचना के दुर्ग, मिट्टी की इहा। इस संग्रह में संवेदना और द्वन्द्व दोनों का बहुत वैविध्य है। 'हरी घास पर क्षण भर' (१९४९) में ४९ कविताएं संगृहीत हैं। इनमें कुछ गीत हैं शेष मुक्त छन्द में लिखी गई कविताएं हैं। 'बावरा अहेरी' (१९५४) 'इन्द्र धनु रौंदे हुए' (१९५७) 'अरी ओ 'करुणा प्रभामय', (१९५९) 'आंगन के पार द्वार', (१९६१) हरी घास पर क्षण भर के ही क्रम में 'सुनहले शैवाल' (१९६५) और 'कितनी नावों में कितनी

बार' नवीन संवेदना के काव्य हैं जिनमें नयी शैली की खोज है। 'आंगन के पार द्वार' 'सुनहले' शैवाल, तथा 'कितनी नावों में कितनी बार' में एक रहस्यात्मकता भी दिखाई पड़ती है।

सोहनलाल द्विवेदी

द्विवेदी जी ने राष्ट्रीय कविताएं दो रूपों में लिखी हैं एक तो आधुनिक राष्ट्र चेतना को व्यक्त करने वाली फुटकल कविताओं के रूप में, दूसरे भारत की अतीत सांस्कृतिक महिमा को व्यक्त करने वाले प्रबंधों के रूप में। 'वासवदत्ता' (१९४१) प्रवन्ध काव्य में भारतीय अतीत-गौरव की कहानी है। 'भैरवी' (१९४२) में २७ राष्ट्रीय कविताएं संगृहीत हैं। विषय विविध हैं परन्तु सबका स्वर राष्ट्रीय है। 'कुणाल' प्रबंध काव्य (१९४२) अशोक पुत्र कुणाल के जीवन पर आधारित है। इसमें तिष्यरक्षिता के षडयन्त्र से निर्वासित कुणाल के उदात्त चरित्र की गाथा गाई है। 'चित्रा' (१९४२) में ४८ कविताएं हैं जिनमें कुछ गीत रूप में हैं। प्राय: सभी कविताएं प्रेम सम्बन्धी हैं। 'तुलसीदास' 'बोधिवृक्ष' और 'बुद्धदेव के प्रति' जैसी कुछ कविताएँ अन्य प्रकार की भी हैं। 'युगाधार' (१९४४) में ३३ कविताएं हैं। ये राष्ट्रीय आन्दोलन, देश की शक्ति और उमंग तथा देश विदेश के महापुरुषों के बारे में लिखी गई हैं। 'वासन्ती' (१९५१) में ५४ कविताएं हैं जिनमें अधिकांश गीत हैं। सारी कविताओं का स्वर रूमानी है और विषय भी मूलतः मानव और प्रकृति-सौन्दर्य तथा प्रेम से सम्बन्धित है। इस अवधि में कुल मिला कर इनकी ६ कृतियां प्रकाशित हुईं।

श्यामनारायण पांडेय

पांडेय जी ने प्रबंध काव्यों के माध्यम से भारत की अतीत कालीन संस्कृति और शौर्य को चित्रित कर आधुनिक राष्ट्र की चेतना को उद्बुद्ध करना चाहा है। किन्तु इनकी भारतीय संस्कृति और राष्ट्रीय चेतना हिन्दू राष्ट्र की चेतना से मुखर जान पड़ती है। इनके २ प्रबन्ध काव्य बहुत लोकप्रिय हुए— 'हल्दीघाटी' और 'जौहर'। 'हल्दीघाटी' (१९३९) में राणा प्रताप के जीवन के संघर्ष, स्वाधीनता की रक्षा के लिए उनके प्रयास और उत्सर्ग तथा इतिहास प्रसिद्ध हल्दीघाटी की लड़ाई का बहुत सजीव अंकन हुआ है। 'जौहर' रानी पद्मिनी के जौहर व्रत वाले आख्यान पर सर्जित प्रबन्ध है। राजा रत्न सेन, उनकी पत्नी पद्मिनी, गोरा बादल, अलाउद्दीन आदि प्रमुख पात्रों से सम्बद्ध यह प्रबन्ध काव्य वीर रस से ओतप्रोत है।

गुरुभक्त सिंह

गुरुभक्त सिंह का 'नूरजहाँ' नामक प्रबन्ध काव्य अपने काल में बहुत लोकप्रिय हुआ। इसमें नूरजहाँ का आख्यान गया गया है। इसमें प्रकृति का बड़ा सहज और वैविध्यपूर्ण चित्रण हुआ है। 'विक्रमादित्य' भी इसी क्रम में इनका दूसरा प्रबंध काव्य है।

गिरिजाकुमार माथुर

माथुर साहब प्रयोगशील कवि हैं। इनके प्रयोग इनकी रूमानी संवेदना से सिक्त हैं इसलिए इनमें मन:सत्य और वस्तु सत्य का बहुत ही सुन्दर पारस्परिक संबंध लक्षित होता है। 'तारसप्तक' में संगृहीत रचनाओं के अतिरिक्त इस अवधि की इनकी ५ प्रमुख काव्यकृतियाँ हैं। 'मंजीर' में रूमानी कविताएं हैं। इनमें रूमानी कविता की प्रेमपरकता, सौन्दर्य-प्रियता तथा प्रेम की असफलता-जन्य निराशा तथा व्यथा देखी जा सकती है। 'नाश औरनिर्माण' (१९४६) में रूमानी संस्कार, प्रगतिवादी चेतना और प्रयोगधर्मिता की संक्रांति दिखाई पड़ती है। 'धूप के धान' (१९५५) में यह संक्रान्ति एक स्वस्थ समन्वय के रूप में उभरती है जिसमें सामाजिक यथार्थ कवि की तीव्र संवेदना का स्पर्श पाकर नये रूप रंगों में खिल उठा है। 'शिलापंख चमकीले' (१९६१) इनका इस धारा का एक प्रौढ़ संगह है। 'जो बंध नहीं सका' इनका नवीनतम संग्रह है।

आरसी प्रसाद सिंह

आरसीप्रसाद सिंह के ५ काव्य संग्रह प्रकाशित हुए—'कलापी' (१९३८) 'संचयिता' (१९४२) 'जीवन और यौवन' (१९४४) 'नई दिशा' (१९४४) 'पाँच जन्य' (१९४५)। इन संग्रहों में व्यक्ति परक कविता की मूल संवेनना लक्षित होती है। विषय भी मूलत: नारी है और प्रस्तुत कवि भी अन्य कवियों की तरह सामाजिक जीवन की ओर उन्मुख होकर तथा उसका असफल गान गाकर अपने में लौट आया है।

जानकी वल्लभ शास्त्री

शास्त्री जी मधुर गीतकार हैं। 'रूप अरूप' 'तीर तरंग' 'शिप्रा' 'मेघगीत' और 'अवंतिका' इनके ५ प्रमुख काव्य संग्रह हैं। 'रूप अरूप' (१९४०) की कविताओं में कवि की अनुभूतियों के साथ-साथ उसका रूढ़ चिन्तन भी लक्षित होता है। 'तीरतरंग' (१९४४) के ९६ गीतों में मूलत: व्यक्तिगत आशा

निराशा मूलक स्वर है। कुछ गीत युगजीवन से भी सम्बन्धित हैं। 'शिप्रा' (१९४५) में कुछ ऐतिहासिक विषय भी लिए गए हैं। इस संग्रह की कविताओं में वैज्ञानिक युग की कठोर वास्तविकताओं के विरुद्ध भावुक प्रतिक्रिया लक्षित होती है। 'मेघगीत' (१९५०) में अनेक मनस्थितियों में बादलों के विविध रूपों को देखा गया है। 'अवंतिका' (१९५३) में गीत और गीतेतर दोनों प्रकार की कविताएं हैं। कवि अपनी गीतात्मक संवेदना के साथ-साथ सामाजिक सत्यों की भी अभिव्यक्ति की ओर उन्मुख हुआ है।

गोपालसिंह नेपाली

नेपाली जी यौवन और प्रकृति के गायक के रूप में उभरे किन्तु बाद में फिल्मी दुनियां में पड़कर अपनी सहज शक्ति खो बैठे। 'पंछी' पंचमी' 'रागिनी' और 'नवीन' इनकी ४ काव्यकृतियां हैं। इन कृतियों में प्रकृति छवि और प्रणयानुभूति का बड़ा सहज अंकन है। 'नवीन' में कुछ राष्ट्रीय कविताएं भी हैं।

शंभुनाथसिंह

शंभुनाथ सिंह बहुत विकासशील कवि रहे हैं उन्होंने सदा समय के साथ अपना स्वर बदला है। आरम्भ में व्यक्तिपरक रूमानी गीत लिखे, फिर प्रगतिवादी कविताएं लिखीं और अब नई कविता (गीत और गीतेतर दोनों) लिख रहे हैं। प्रस्तावित समय के अन्तर्गत इनके ७ संग्रह प्रकाश में आये। 'रूपरश्मि' (१९४५) में कवि की आरंभिक रूप-प्यास, उसके अभाव में तीव्र विरहानुभूति तथा विषाद-वेदना का साक्षात्कार बहुत गाढ़ भाव से व्यक्त हुआ है। 'छांयालोक' (१९४६) 'रूपरश्मि' की संवेदना का ही अगला चरण है। यह अवश्य है कि इसका स्वर रूपरश्मि के स्वर की अपेक्षा कुछ कम उत्तेजक है। 'उदयाचल' (१९४६) में निराशा, विषाद और अभाव की ओर से आशा, विश्वास और शक्ति की ओर यात्रा है। इसमें दोनों स्थितियों की संक्रमित चेतना का दर्शन होता है। 'मन्वंतर' (१९५१) में कवि की १४ लम्बी लम्बी प्रगतिशील कविताएं संगृहीत हैं। कवि के शब्दों में युग और समाज को बदल कर नये जीवन मूल्यों की स्थापना करना ही इन कविताओं का उद्देश्य है। 'दिवालोक' (१९५३) भी कवि की रूमानी दृष्टि से लिखी गई निराशा 'मिलन-विरह' आशा-निराशा, रूपाकांक्षा और सुधि की कविताओं का संग्रह है। 'माध्यम मैं' (१९५७) में कवि का स्वर बदला हुआ है। इसमें

संगृहीत गीत तथा गीतेतर कविताएं दोनों में ही नवीन भावबोध और शिल्प का दर्शन होता है। इसी क्रम में 'खंडित सेतु' (१९६७) की भी कविताएं आती हैं।

शमशेरबहादुर सिंह

शमशेर की कविताएं 'दूसरा सप्तक' में संकलित हैं। दूसरा सप्तक तार-सप्तक की परम्परा में अज्ञेय के ही संपादन में प्रकाशित हुआ है। इसमें भी सात कवि संकलित हैं—भवानीप्रसाद मिश्र, शकुन्तला माथुर, हरिनारायण व्यास, शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता, रघुवीर सहाय, और धर्मवीर भारती। शमशेर समाजवादी विचारों के होते हुए भी संस्कारों में व्यक्तिवादी हैं अतः इनकी कविताओं में दो स्वर उभरते हैं—एक तो समाजवादी स्वर जो इनके व्यक्तित्व में रचपच न सकने के कारण कविता को सतही बना देता है दूसरा व्यक्तिवादी स्वर जो इनके व्यक्तित्व से फूटने के कारण इनकी कविताओं को बहुत गहरा सूक्ष्म और असामाजिक रूप प्रदान करता है। शमशेर की इस प्रकार की कविताओं के दो संग्रह हैं—(१) कुछ कविताएं (१९५९) तथा (२) कुछ और कविताएं (१९६१)।

केदारनाथ अग्रवाल

'नींद के बादल' (१९४७) रूमानी कविताओं का संग्रह है। किन्तु इसकी प्रेम-कविताएं लोक परिवेश में उभरने के कारण बहुत खुली हुई स्वस्थ और सहज हैं। 'युग की गंगा' (१९४७) कवि की प्रगतिवादी कविताओं का संग्रह है। इसमें सामाजिक विषमता और संघर्ष के साथ लोकजीवन और प्रकृति की उन्मुक्त मस्त छवि को भी चित्रित किया गया है। फूल नहीं रंग बोलते हैं' (१९६५) में प्रकृति और जीवन-सौन्दर्य के अछूते चित्र हैं।

नागार्जुन

'युगधारा' (१९५३) इनका प्रतिनिधि काव्य संग्रह है। इसमें तीन तरह की कविताएं हैं। कुछ कविताएं ऐसी हैं जो जीवन के गहन अनुभवों और सौन्दर्य-बोध से स्पन्दित हैं। कुछ कविताओं में हमारी सामाजिक विसंगतियों पर गहरे व्यंग्य उभरे हैं। कुछ ऐसी हैं जो मार्क्सवादी सिद्धान्त या मार्क्सवादी दृष्टि से जीवन सत्यों का प्रचार करती है। 'संतरंगे पंखों वाली' की कविताओं में कवि का स्वर अधिक सौन्दर्यवादी हो गया है।

नेमिचन्द्र जैन

नेमिचन्द्र तीसरा सप्तक के कवि हैं।

त्रिलोचन शास्त्री

त्रिलोचन की कविताओं में उभरने वाला अभाव, वैषम्य, संघर्ष उनके जीवनानुभव से फूटा है। 'धरती' (१९४५) इनकी प्रगतिशील कविताओं का संग्रह है। इनमें जीवन के अनुभव-सिक्त स्वर हैं। इन स्वरों में वैविध्य है जो सहज चित्रों के माध्यम से उभारा गया है। 'गुलाब और बुलबुल' इनकी ग़जलों और 'दिगन्त' इनके सानेटों का संग्रह है। इन सभी कविताओं में धरती का स्वर है किन्तु वह अनुभव और सौन्दर्य से विच्छिन्न कहीं नहीं हैं।

शिवमंगलसिंह सुमन

'हिल्लोल' रूमानी कविताओं का संग्रह है। इसमें असफल प्रेम की व्यथा और निराशा दीखती है। कुछ कविताएं ऐसी भी है जो कवि के प्रगतिवादी विकास की ओर संकेत करती हैं। 'जीवन के गान' (१९४०) प्रगतिवादी कविताओं का संग्रह हैं। 'प्रलय सृजन' (१९४४) 'जीवन के गान' की परंपरा की अगली कड़ी हैं। 'विश्वास बढ़ता ही गया' तथा 'पर आंखें नहीं भरी' की कविताएं भी इसी स्वर की विकसित कविताएं हैं।

भवानी प्रसाद मिश्र

भवानी प्रसाद मिश्र की कविताएं दूसरा सप्तक में संकलित हैं। मिश्रजी की कविताओं में लोक-जीवन का संस्पर्श है, अतः खुलापन और वैविध्य है। इन कविताओं का सुख-दुख और आशा-निराशा बहुत सहज लगती है। 'गीत फरोश' (१९५६) तथा 'चकित है दुख' (१९६८) इनके संग्रह हैं।

प्रभाकर माचवे

माचवे की कविताएं आरंभ से ही रूमानियत की कोमलता और तरलता के विरुद्ध एक फक्कड़ मस्ती लिए हुए हैं। उनमें बहुत पहले से मोह भंग का स्वर सुनाई पड़ता है। माचवे की कविताएं अपने अटपटे, बिखरे बिखरे संदर्भों से संग्रथित और अगभीर से दीखने वाले अंदाज में

जीवन के कुछ बहुत गहरे सत्यों को उद्‌घाटित कर एक ताज़गी देती हैं, कहीं अपनी इस प्रवृत्ति की दूसरी सीमा पर पहुँच कर अनर्गल असम्बद्ध प्रलाप भी लगती हैं। 'स्वरभंग' (१९५७) 'अनुक्षण' (१९५९) 'तेलकी पकौड़ियाँ' (१९६२) 'मेपल' (१९६७) इनके काव्य संग्रह हैं।

गजानन माधव मुक्ति बोध

इनकी कविताएं तार सप्तक में संकलित हैं। इनकी कविताओं में समाजवादी स्वर है, सामाजिक विषमताओं की विवृति है तथा जीवन के प्रति गहरी निष्ठा और जिजीविषा है। सामाजिक विसंगतियों, अधकार-ग्रस्त मूल्यों को मुक्त आसंगों वाले बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्ति देने वाली मुक्तिबोध की कविताएं प्रायः लम्बी है। 'चांद का मुह टेढ़ा है' (१९६४) में कवि की कुछ कविताएं संगृहीत हैं।

भारतभूषण अग्रवाल

तारसप्तक की कविताओं के अतिरिक्त इनके ४ काव्यसंग्रह है। 'छवि के बन्धन' रूमानी कविताओं का संग्रह है। प्रणयपाश में बधा हुआ कवि कभी कभी समाज की ओर देख लेता है। 'जागते रहो' प्रगतिशील कविताओं का संग्रह है। इस संग्रह में कवि के रूमानी संस्कार से उसकी सामाजिक चेतना जूझती हुई प्रतीत होती है इसलिए वह सामाजिक चेतना को संस्कार नहीं बना सका है। 'मुक्तिमार्ग' (१९४७) में सामाजिक चेतना स्वस्थ रूप से आई है। कवि की चेतना उसके प्रयोगों का संस्पर्श पाकर सशक्त रूप में व्यक्त हुई है। 'ओ अप्रस्तुत मन' (१९५८) में कवि का सामाजिक स्वर अधिक प्रभाव शाली सौन्दर्य-चित्रों की सृष्टि और विसंगति पूर्ण जीवन यथार्थों का व्यंग्यात्मक उद्‌घाटन कर सका है।

रांगेय राघव

'अजेय खँडहर', 'पिघलते पत्थर' और 'मेधावी' इनके तीन काव्य ग्रन्थ हैं। 'अजेय खंडहर' (१९४४) एक प्रबंधात्मक कृति हैं जिसमें स्तालिनग्राद के युद्ध का सजीव अंकन है। 'पिघलते पत्थर' (१९४६) प्रगतिशील कविताओं का संग्रह है जिसमें प्रगतिवाद की शक्तियां-अशक्तियाँ खुलकर दिखाई पड़ती हैं। 'मेधावी' (१९४७) चिंतन प्रधान कृति है। इसमें दर्शन, भूगोल, इतिहास, समाजशास्त्र सबका समावेश है, इसकी भूमि बहुत ही विस्तीर्ण है।

हरिनारायण व्यास

'दूसरा सप्तक' के कवि हैं। व्यास जी की दृष्टि सामाजिक है किन्तु वह उनके अनुभव से संपृक्त है इसलिये वह सामाजिक संवेदना वाली कविताओं की सृष्टि करती है केवल चिंतन बन कर नहीं रह जाती। व्यास की कविताओं में एक खुलेपन के साथ जीवन का गहन यथार्थ व्यक्त होता है तथा वह अपने अनुकूल उपयुक्त लोक बिम्बों का चुनाव कर लेता है। कवि की ये विशेषताएं घनीभूत होती गई हैं और 'मृग और तृष्णा' (१९६८) में अपने उत्कृष्ट रूप में दिखाई पड़ती हैं।

नरेश मेहता

इनकी कविताएं 'दूसरा सप्तक' में संगृहीत हैं। मेहता जी विचारों से समाजवादी हैं किन्तु उनकी प्रयोगशीलता उन्हें प्रगतिशील कवियों की धारा से अलग करती है। 'दूसरा सप्तक' में संकलित कविताओं में कुछ सुन्दर प्रकृति चित्र हैं, कुछ 'समय देवता' जैसी विचारात्मक कविताएं हैं। किन्तु बिम्ब बहुलता होने से इनकी विचारात्मक कविताएं भी अनुभव से संपृक्त रहती है। वैसे इनकी मूल प्रकृत्ति गीतात्मक ही कही जा सकती है। 'बन पाखी सुनो' तथा 'बोलने दो चीड़ को' इनकी कविताओं के दो संग्रह हैं तथा 'संशय की एक रात' राम के जीवन के एक संदर्भ को लेकर लिखा गया प्रबंध काव्य है।

धर्मवीर भारती

इनकी कविताएं 'दूसरा सप्तक' में संकलित हैं तथा 'ठंडा लोहा' (१९५२) एवं 'सातगीत वर्ष' (१९५९) नामक दो काव्य-संग्रह प्रकाशित हुए हैं। इन दोनों में गीत भी हैं और मुक्त छन्दवाली कविताएं भी। विषय कई प्रकार के हैं किन्तु मूल संवेदना रूमानी ही प्रतीत होती है। रूमानी संवेदना नये प्रयोगों और सूक्ष्म भाव संश्लिष्टताओं से संपृक्त होने के कारण नई छवि प्राप्त कर लेती है। 'सात गीत वर्ष' (१९५९) में कवि का भावबोध अधिक आधुनिक, संक्रान्त और सूक्ष्म हुआ है, उसमें अभिव्यक्ति की वह स्फीति भी नहीं है जो 'दूसरा सप्तक' या 'ठंडा लोहा' में संकलित कुछ कविताओं में दिखाई पड़ती है। 'अंधायुग' (१९५४) गीति नाट्य और 'कनुप्रिया' (१९५९) इनका प्रबंध काव्य है।

रघुवीर सहाय

'दूसरा सप्तक' के कवि हैं। रघुवीर सहाय का स्वर सबसे अलग दीखता है। बहुत सहज भाषा में बोलचाल के लहजे में जीवन के सत्यों को, कुछ मनस्थितियों को व्यक्त कर देना इनकी विशेषता है। 'सीढ़ियों पर धूप में' और 'आत्महत्या के विरुद्ध' इनके दो काव्य संग्रह हैं। 'आत्यहत्या के बिरुद्ध' में राजनीतिक विषयों को कविता का विषय बनाया गया है।

शकुंतला माथुर

शकुंत जी 'दूसरा सप्तक' की कवयित्री हैं। इनकी कविताओं में नारी-मन की सहज सौन्दर्यमयी प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है जो कुछ खुले रूप में प्रकृति और मानवीय लोक में विचरण करती है। शकुंत जी में नारी-मन का घिराव नहीं है, कवयित्री सामाजिक परिवेश की संगतियों, विसंगतियों में मी मुक्त भाव से घूमती है। 'अभी और कुछ इनका' काव्य संग्रह है।

तीसरा सप्तक के कवि

प्रयाग नारायण त्रिपाठी की कविताओं में जीवन की विविध मनस्थितियों का ताजे खुले विम्बों के माध्यम से चित्रण हुआ है। इनमें एक सहज प्रसन्नता दीखती है।

कीर्ति चौधरी की कविताएं आज के नारी-मन की सहज अभिव्यक्तियाँ हैं। इनमें न तो बौद्धिकता का बोझ है, न छिपाव दुराव। अनुभूति का एक खुलापन सर्वत्र दिखाई पड़ता है। 'कविताएं' इनका संग्रह है।

मदन वात्स्यायन की अनुभूतियाँ अन्य नये कवियों से थोड़ी भिन्न हैं क्योंकि वे मशीनी परिवेश में बनी हैं। कवि ने अपनी कविताओं में प्रायः मिलों के परिवेश और उसमें जी जाती हुई जिन्दगी के स्वर को मुखर किया है।

केदारनाथ सिंह का भी अपना विशिष्ट अनुभव-जगत है। लोक-जीवन की तरलता और गीतात्मकता से भरे विशिष्ट गीत लिखने वाले केदार की कविताओं में बौद्धिकता, जटिलता और अकेलेपन से भरे नगर जीवन का बोध भी है जिसे वे बिम्बों के माध्यम से अभिव्यक्त करते हैं। 'अभी बिलकुल अभी' (१९५९) इनका काव्य-संग्रह है।

कुँवर नारायण की कविताएं नगर बोध की कविताएं हैं जिनमें बहुत कटे छँटे विम्बों, प्रतीकों के माध्यम से व्यक्तिगत संवेदनों और सामाजिक चिन्तन को व्यक्त किया गया है। 'चक्रव्यूह' (१९५६) तथा 'परिवेश हम तुम' (१९६१) इनके दो काव्य-संग्रह हैं। आत्मजयी (१९६५) कठोपनिषद् से लिए गये नचिकेता के आख्यान पर आधारित प्रवन्ध काव्य है।

विजयदेव नारायण साही की कविताओं में थोड़े नये स्पर्श वाले परंपरित गीत भी हैं व्यंग्य भी हैं और नये प्रतीकों, विम्बों वाली, आधुनिक भावबोध सम्पन्न रचनाएं भी हैं। 'मछलीघर' इनका काव्य संग्रह है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना की कविताओं में विषय का वैविध्य है, अनुभूति की सरलता और निश्छलता है, आधुनिक प्रश्नों पर संवेदनात्मक प्रतिक्रियाएँ हैं, चिन्तन का भी स्पर्श है। काठ की घंटियां, (१९५९) 'बांस का पुल (१९६३) तथा 'एक सूनी नाव (१९६६) इनके काव्य-संग्रह हैं।

सप्तकों के बाहर के कवि

'तार सप्तक' का प्रकाशन एक सुविधा के आधार पर हुआ। बाद के दोनों सप्तकों का सम्पादन सम्पादक 'अज्ञेय' की अपनी रुचि और चुनाव के अनुसार हुआ। इधर निर्मित हो रहे काव्य की चर्चा बार-बार सप्तकों के आधार पर की गयी किन्तु सप्तकों के बाहर भी अनेक ऐसे कवि हैं जिनका लेखन विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण है।

जगदीश गुप्त मूलतः गीतात्मक संवेदना के कवि हैं किन्तु उनकी कविताओं में आधुनिक मन का तनाव, विघटन और ज्ञानात्मक संवेदन भी व्यक्त हुआ है। 'नाव के पांव,' (१९५५) 'शब्द दंश' (१९५९) तथा 'हिमविद्ध' (१९६४) इनके काव्य संग्रह हैं।

बालकृष्ण राव ने काव्य-यात्रा आरम्भ की वैयक्तिक गीत धारा से किन्तु बाद में मुक्तछन्द की कविताओं में आधुनिक भाव बोध और परिवेशगत यथार्थ को अभिव्यक्ति देने लगे। सानेट के क्षेत्र में कुछ नये प्रयोग किये। 'अर्द्ध-शती' (१९६१) उनकी आधुनिक भावबोध सम्बन्धी कविताओं का संग्रह है।

डा० देवराज (१) उर्वशी ने कहा (१९६०) इनकी कविताओं का संग्रह है जिसमें आधुनिक संवेदना की अपेक्षा आधुनिक दृष्टि और चिंतन अधिक है।

'इतिहास पुरुष' (१९६५) में 'इतिहास पुरुष' एक लम्बी कविता तथा अन्य कविताएं हैं। 'इतिहास-पुरुष' में इतिहास को मानवीकृत कर आज के जीवन की विषमता तथा मानवीय अवस्था का स्वर उभारा गया है। अन्य कविताओं में 'क्लिओपेट्रा का पत्र सीता के नाम' एक विशिष्ट रचना है जिसमें भारतीय और पश्चिमी संस्कृतियों का द्वन्द्व दिखाया गया है।

वीरेन्द्र कुमार जैन में रूमानी स्पर्श से स्पंदित यथार्थ बोध का चित्रण मिलता है। उनमें भाषा का छायावादी लालित्य है और उनके स्वर में सूर्योदयी आस्था। 'अनागता की आंखें (१९५९) उनका काव्य संग्रह है।

ठाकुर प्रसाद सिंह की कविताएं पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। इनकी कविताओं में संघर्षशील व्यक्तित्व की एक घनीभूत वेदना तथा जिजीविषा दिखाई पड़ती है। इनकी स्पष्ट सामाजिक दृष्टि जीवन की अनेक विसंगतियों तथा विघटन के बीच एक प्राण-स्वर पा लेती है लेकिन इनकी उपलब्धियाँ गीत के क्षेत्र में अधिक हैं। वंशी और मादल (१९५९) ने हिन्दी गीत के स्वर में एक नया स्वर ही नहीं जोड़ा है उसे अपने ढंग से एक घनत्व प्रदान किया है।

राजीव सक्सेना प्रगतिवादी चेतना के कवि रहे हैं और हैं किन्तु वे नयी सामाजिक चेतना को, परिवेशगत यथार्थ को सारी संगति-विसंगति को अनुभव के स्तर पर उभारने के कारण तथा शिल्प की नवीन छवियों को पहचानने के कारण अपना अलग व्यक्तित्व रखते हैं। 'आत्म निर्वासन तथा अन्य कविताएँ' इनका काव्य संग्रह है।

श्रीकान्त वर्मा ने अपनी कविताओं में सामाजिक विसंगतियों पर तीखा प्रहार किया है किन्तु उनमें प्रहार की तल्खी के साथ ही साथ आत्मवेदना और यातना का गहरा स्वर भी है। कहा जा सकता है कि इधर के कवियों में श्रीकान्त की नगर-चेतना सर्वाधिक गहन और निर्मम है। नये बिम्बों के क्षेत्र में भी श्रीकान्त की कविताएँ अपना वैशिष्ट्य रखतो हैं गो कि कभी-कभी एक कृत्रिम बौद्धिकता या दिखावे की आधुनिकता कविताओं को ढक लेती है। 'माया दर्पण' (१९६७) और 'दिनारंभ' (१९६७) इनके काव्य संग्रह हैं। 'दिनारंभ' में अत्यंत छोटी छोटी चित्रात्मक कविताएं हैं।

स्वातंत्र्योत्तर भारतीय परिवेश के यथार्थ और आधुनिक जीवन चेतना से निर्मित अन्य विशिष्ट काव्य कृतियाँ हैं—'कंकावती', 'मुक्ति प्रसंग' (राजकमल) 'अंकित होने दो' अकेले कंठकी पुकार (अजित कुमार) 'एककंठ विषपायी' (दुष्यंत कुमार) 'आओखुलीबयार' (राजेन्द्रप्रसाद सिंह) 'इतिहास का दर्द' (रणजीत) 'समयातीत' (कान्ता) 'सिर्फ एक गुलाब के लिए' (उदयभान मिश्र) 'चौंसठ कविताएँ' (इन्दु जैन) 'शहर अब भी सम्भावना है' (अशोक वाजपेयी) 'संक्रान्त' (कैलाश वाजपेयी) 'त्रास' (विजेन्द्र) 'अतुकान्त' (लक्ष्मीकन्त वर्मा)

उपर्युक्त रचनाओं की परीक्षा करने पर यह प्रतीत होता है कि प्रस्तुत कालावधि के काव्य-साहित्य की अनेक प्रवृत्तियां हैं। इस बीच का इतिहास कई वादों और धाराओं से होकर गुजरा है। कई कई जीवनदृष्टियाँ तथा काव्य की वस्तु और शिल्प सम्बन्धी मान्यताएं उभरी हैं। किसी धारा में व्यक्तिगत अनुभूति का घनत्व अधिक है तो किसी में सामाजिक अनुभूति की स्फीति। किसी में रूमानी दृष्टि की प्रधानता है तो किसी में बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की। उपर्युक्त कृतियों के आधार पर यदि हम इन अनेक दृष्टियों, मान्यताओं और रचना-रूपों का वर्गीकरण करें तो स्पष्ट रूप से चार काव्य धाराएं उभर कर आती लक्षित होती हैं। उन्हें राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा क्रमागत छायावादी काव्य धारा. वैयक्तिक गीति काव्य धारा, प्रगतिवादी काव्य-धारा और प्रयोगवादी, नई कविता धारा कहा जा सकता है। इनमें से पहली दो धाराएं नई नहीं है। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा भारतेन्दु काल से आरम्भ होकर द्विवेदीकाल, छायावाद काल को पार करती हुई इस काल की कविताओं में समकालीन प्रश्नों, स्वरों से संयुक्त होकर और भी उदार और वैविध्यपूर्ण हो गई। छायावादी काव्य धारा छायावाद काल में अपना पूर्ण उत्कर्ष प्राप्त कर चुकी थी और परम्परा के निर्वाह सी इस काल में भी बहती हुई दिखाई पड़ती है। शेष तीन धाराएँ प्रस्तुत काल की ही उपज हैं। वे अपने अपने ढंग से ऐतिहासिक अनिवार्यता के गर्भ से फूटी हैं।

प्रस्तुत कृतियों में कुछ कृतियाँ ऐसी भी हैं जिनमें एक ही साथ कई धाराएं दिखाई पड़ती हैं वे कृतियां भले ही किसी एक वर्ग में न रखी जा सकें किन्तु वे इस बीच उभरने वाली एकाधिक काव्य प्रवृत्तियों का निदेश तो करती ही हैं। किन्तु इनके अतिरिक्त शेष कृतियां स्पष्ट रूप से किसी न किसी धारा या प्रवृत्ति का स्वरूप निर्धारित करती हैं। इनका वर्गीकरण करें तो चित्र कुछ इस प्रकार होगा—

'नहुष,' 'कुणालगीत,' 'अजित,' 'जयभारत' (मैथिलीशरण गुप्त) 'हिमकिरीटिनी,' 'हिमतरंगिनी', 'माता' 'समर्पण' 'युगचरण' (माखनलाल चतुर्वेदी) 'अपलक', 'क्वासि', 'विनोबास्तवन' 'हमविषपायी जनम के' (बालकृष्ण शर्मा नवीन), 'नकुल', 'नोआखाली', 'जयहिन्द', 'आत्मोत्सर्ग' 'उन्मुक्त', 'गोपिका', (सियाराम शरण गुप्त) 'हुंकार', 'द्वंद्वगीत', 'कुरुक्षेत्र', 'इतिहास के आंसू' 'रश्मिरथी' 'धूप और धुआं', 'दिल्ली' (दिनकर) 'वासवदत्ता', 'भैरवी', 'कुणाल', 'चित्रा', 'युगाधार' (सोहनलाल द्विवेदी) 'सूत की माला' (बच्चन) 'हल्दीघाटी', 'जौहर' (श्यामनारायण पांडेय) 'नूरजहाँ' 'विक्रमादित्य' (गुरुभक्त सिंह 'भक्त') 'विसर्जन', 'मानसी', 'अमृत और विष', 'युगदीप', 'यथार्थ और कल्पना', 'एकला चलो रे', विजयपथ' (उदयशंकर भट्ट) 'काल दहन', 'तप्तगृह', 'कैकेयी' 'दानवीर कर्ण', (केदारनाथ मिश्र प्रभात) राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा की कृतियां हैं। इनमें 'अपलक' क्वामि' और 'चित्रा' एसी कृतियां हैं जिनमें राष्ट्रीय स्वर गौण है, प्रेम का स्वर प्रधान है। 'तुलसीदास' 'अणिमा', 'अर्चना', 'आराधना' (निराला) 'स्वर्णकिरण' 'स्वर्णधूलि' 'मधुज्वाल', 'युगपथ' 'उत्तरा', 'रजत शिखर', शिल्पी', 'अतिमा' 'कला और बूढ़ा चाँद', -'लोकायतन' (सुमित्रानन्दन पन्त) 'दीपशिखा' (महादेवी वर्मा) 'रूप अरूप', 'शिप्रा', 'मेघगीत', 'अवंतिका' (जानकीवल्लभ शास्त्री) छायावादी कृतियां हैं। 'अणिमा' में कुछ कविताएं राष्ट्रीय और सांस्कृतिक व्यक्तित्वों पर भी हैं। पंत जी की इस काल की सभी छायावादी कृतियों में सांस्कृतिक स्वर सुनाई पड़ता है। भौतिकवाद और अध्यात्मवाद के समन्वय की एक बेचैनी इनमें बराबर लक्षित होती है। इस तरह इन कृतियों का मूल स्वर तो छायावादी है किन्तु विषय की दृष्टि से इन्हें अन्यान्य धाराओं भी जोड़ा जा सकता है।

रूमानी धारा में आने वाली किन्तु छायावाद से अलग ऐसी अनेक कृतियाँ हैं जो एक नयी प्रवृत्ति को सूचित करती हैं उसे वैयक्तिक गीत कविता कहा जा सकता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत आने वाली कृतियाँ हैं—'निशा-निमंत्रण' 'आकुल अंतर', 'सतरंगिनी, 'बंगाल का काल', 'मिलन यामिनी' (हरिवंश राय बच्चन) 'रसवंती' (दिनकर) 'प्रभातफेरी' प्रवासी के गीत', 'पलाशवन', 'मिट्टी और फूल,' 'अग्निशस्य', 'कदलीवन' (नरेन्द्र शर्मा) 'मधूलिका', 'अपराजिता, 'किरणवेला', 'लाल चूनर' (रामेश्वर शुक्ल 'अंचल') 'कलापी', संचयिता', 'जीवन और यौवन, 'पांचजन्य' (आरसी प्रसाद सिंह) 'रूपरश्मि', 'छायालोक', 'उदयाचल', 'मन्वंतर', दिवालोक'

(शंभूनाथसिंह) 'पंछी,' 'पंचमी', 'रागिनी', 'नवीन' (गोपालसिंह नेपाली) 'नींद के बादल' (केदारनाथ अग्रवाल) 'हिल्लोल' (सुमन), 'मंजीर' (गिरजा कुमार माथुर) 'छवि के बन्धन' (भारतभूषण अग्रवाल) इनमें 'बंगाल का काल', 'मन्वंतर,' पुस्तकें और शेष अन्य अनेक कृतियों की कुछ कुछ कविताएं सामाजिक विषमता और अभाव के प्रति विद्रोह और अस्वीकृति का स्वर मुखर करती हैं किन्तु वे अपनी चेतना में मूलतः व्यक्तिवादी ही हैं। इसलिए इन्हें वस्तुतः इसी धारा के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

'युगवाणी', 'ग्राम्या' (पंत) 'कुकुरमुत्ता' (निराला) 'युग की गंगा' (केदार नाथ अग्रवाल) 'युगधारा' (नागार्जुन) 'धरती' (त्रिलोचन) 'जीवन के गान,' 'प्रलय सृजन' (शिवमंगलसिंह सुमन) 'अजेय खंडहर' पिघलते पत्थर' 'मेधावी' (रांगेय राघव) 'मुक्तिमार्ग' 'जागते रहो' (भारतभूषण अग्रवाल) प्रगतिवादी धारा की सृष्टि करती हैं। इन कृतियों के अतिरिक्त नरेन्द्र शर्मा, अंचल, आरसीप्रसाद सिंह और शंभूनाथसिंह की उपर्युक्त पुस्तकों की अनेक कविताएं ऐसी हैं जो इस धारा के अन्तर्गत आती हैं।

प्रगतिवादी और वैयक्तिक कविता धारा की कृतियों के साथ-साथ कुछ ऐसी कृतियां भी सामने आईं जिन्हें प्रयोगवादी धारा की कृतियां कहा गया। प्रगतिवादी और वैयक्तिक धारा की कविताएँ १९३५ के आसपास प्रारम्भ हो गई थीं किन्तु प्रयोगवादी धारा की कविताएँ १९४३ ई० के आसपास उभरती हुई दीखती हैं। फिर सभी साथ-साथ चलती हैं। 'तार सप्तक' (सं० अज्ञेय) 'इत्यलम्' 'हरी घास पर क्षण भर' (अज्ञेय) 'नाश और निर्माण' (गिरिजाकुमार माथुर) 'ठंडा लोहा' (धर्मवीर भारती) तथा 'दूसरा सप्तक' इस धारा की कृतियाँ हैं। प्रयोगवाद आगे चलकर नयी कविता में पर्यवसित हो गया। इसलिए नयी कविता में प्रयोगवाद के बहुत-से तत्त्व मिलते हैं फिर भी उसका स्वतन्त्र विकास हुआ। बहुत से कवि ऐसे हैं जो दोनों धाराओं में हैं इसलिए उनकी कृतियों को लेकर बहुत साफ तौर पर यह कह पाना कठिन है कि कहाँ तक वे प्रयोगबादी हैं और कहाँ से नयी कविता के कवि हो जाते हैं। फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि सन् १९५० के बाद नए भावबोध की जो कविताएँ लिखी गयीं वे नयी कविता हैं और प्रयोगवादियों की ही सन् पचास के बाद की कविताओं को नयी कविता कह सकते हैं। फिर भी सन् ५२ में प्रकाशित 'दूसरा सप्तक' की अधिकांश कविताएँ अपने व्यक्तिवादी स्वभाव के कारण प्रयोगवाद में ही शरीक की जाती हैं। इसलिए नयी कविता

को प्रयोगवाद के ही क्रम में देखना चाहिए। यदि पचास को मोटे तौर पर विभाजक रेखा माना जाय तो 'दूसरे सप्तक' की कुछ कविताएँ, 'तीसरा सप्तक', 'बावरा अहेरी', 'इन्द्रधनु—रौंदे हुए', 'अरी ओ करुणा प्रभामय', 'आँगन के पार द्वार', 'कितनी नावों में कितनी बार', (अज्ञेय) 'धूप के धान', 'शिलापंख चमकीले', (गिरजाकुमार माथुर) 'अर्द्धशती' (बाल कृष्ण राव) 'अनागता की आँखें' (वीरेन्द्र कुमार जैन) 'माध्यम मैं', 'खंडित सेतु' (शंभुनाथ सिंह) 'कुछ कविता' 'कुछ और कविताएँ' (शमशेर) 'गीत फरोश', 'चकित है दुःख' (भवानी प्रसाद मिश्र) 'स्वप्न भंग' 'अनुक्षण', 'मेपल' (प्रभाकर माचवे) 'चांद का मुंह टेढ़ा है' (मुक्तिबोध) 'ओ अप्रस्तुत मन' (भारत भूषण अग्रवाल) 'वन पाखी सुनो', 'संशय की एक रात' (नरेश मेहता) 'सात गीत वर्ष', 'कनु प्रिया' 'अंधा युग' (भारती) 'मृग और तृष्णा' (हरिनारायण व्यास) 'मछली घर' (विजयदेव नारायणसाही) 'काठघंटियां', 'बांस के पुल', 'एक सूनी नाव' (सर्वेश्वर दयाल सक्सेना) 'चक्रव्यूह' 'परिवेश हम तुम' आत्मजयी (कुंवर नारायण) 'अभी बिलकुल अभी' (केदार नाथ सिंह) 'आओ खुली बयार' (राजेन्द्र प्रसाद सिंह) तथा वे सभी कृतियां जिनकी चर्चा सप्तकों के बाहर के कवियों के संदर्भ में की गई है, नयी कविता की कृतियां हैं। इसके अतिरिक्त कल्पना, कृति, लहर, ज्ञानोदय आदि पत्रिकाओं तथा 'प्रतीक' 'नयी कविता', 'निकष', 'संकेत' 'विधिधा' आदि में संकलित कविताएँ 'नयी कविता' में आती हैं। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य काव्य-संकलन भी प्रकाशित हुए हैं, जो नयी कविता की धारा में आते हैं, जैसे—'प्रारम्भ' (सम्पादक जगदीश चतुर्वेदी) विजप, संदर्भ (सं० डा० विनय) छ×दस, प्रतिश्रुत पीढ़ी (सं० रणजीत)।

इन कृतियों के आधार पर इनके माध्यम से उभरने वाली काव्य-प्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्ति का आसानी से आकलन किया जा सकता है। निश्चय ही शक्ति का आकलन कृतियों की संख्या से नहीं किया जा सकता। किसी धारा में कृतियों की संख्या की अधिकता अनिवार्य रूप से यह नहीं सूचित करती कि धारा हमें विपुल सर्जन करने के लिए आकृष्ट कर रही है, चुकी हुई, या चुकती हुई धारा से पिच्छल भूमि पर फिसलते चलने में प्राप्त होने वाली सुविधा भी इसका कारण हो सकती है। अतः शक्ति के आकलन का यह विश्वसनीय आधार नहीं है। वास्तव में किसी धारा की शक्ति का आधार उसकी जीवतंता और उसमें सर्जित कृतियों का काव्य-सौन्दर्य ही हो सकता है।

32794

छायावादी काव्य १९३५ तक अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँच चुका था। धारा के रूप में वह स्वय अपनी ताजगी, जीवंतता और युग-सन्दर्भ में अनिवार्यता की अनुभूति नहीं कर पा रहा था। स्वयं छायावादी कवि पंत के शब्दों में वह अलकृत संगीत बन गया था। इसलिए इस अवधि में लक्षित होने वाली छायावादी काव्य-धारा में वह उन्मेष नहीं दिखाई पड़ता जो उसमें आरम्भ और उत्कर्ष काल में था। प्रस्तावित काल में छायावाद के लब्ध-प्रतिष्ठ और नये दोनों प्रकार के छायावादी कवियों की कविताओं को समय की आकांक्षा से संयुक्त काव्य नहीं कहा जा सकता। लब्ध-प्रतिष्ठ कवियों की कविताओं में उनकी प्रतिभा की शक्ति के कारण एक वैभव अब भी दृष्टिगत होता है किन्तु सामान्य प्रतिभा के कवियों में तो उसका चुका हुआ पिष्ट-पोषित और फारमूलाबद्ध रूप ही अधिक दीखता है। इसलिए अपने बड़े-बड़े कवियों के बावजूद छायावाद इस काल में उन्मेष-शून्य ही होता गया। निराला की अनेक कृतियां इस काल में भी शक्ति-सम्पन्न होकर आयीं किन्तु इनकी शक्ति का कारण निराला की प्रतिभा तो है ही इनका निरन्तर लोक-जीवन के स्वर से संपृक्त होते जाना भी है। इन सभी कृतियों में लोक-संवेदना और लोक-स्वर से स्पदित कविताएँ हैं। पंत इस अवधि में छायावादी काव्य-परम्परा में कुछ भी बहुत जीवंत नहीं दे सके, यद्यपि उन्होंने अपने काव्य को बराबर युग-यथार्थ से जोड़ते रहने का प्रयत्न किया। महादेवी की 'दीपशिखा' निश्चय ही उनके मूल स्वर की चरम परिणति के रूप में दीखती है । किन्तु इस बिन्दु पर पहुंच कर महादेवी जी इस धारा और इस धारा से निर्मित अपनी काव्य-शक्ति की सीमा का अनुभव कर एकदम चुप हो जाती हैं। छायावादी काव्य-धारा में आने वाले शेष कवि केवल पिष्ट-पेषण करते रहे। छायावादी धारा इस अवधि में अपने को समय की गतिविधियों और आकांक्षाओं से भले ही न जोड़ सकी हो किन्तु संख्या और काव्योपलब्धि दोनों दृष्टियों से निराला, पंत और महादेवी की ये कृतियां अन्य धाराओं की कृतियों की तुलना में कम नहीं ठहरतीं. इनका अपना वैशिष्ट्य है।

बैयक्तिक गीतकबिता निश्चय ही युग-मानस के स्वर से कहीं न कहीं जुड़ी होने के कारण सजीव और ताजा प्रतीत होती है। इस युग का युवा-मानस अपनी तीव्र स्वच्छन्द संवेदना को निर्व्याज रूप से गा उठने के लिए आकुल था। इन कवियों की कविताओं में इसी आकुलता को स्वर मिला। संवेदना और अभिव्यक्ति के ऊपर बिछी आंतक और संकोच की परतें

चरमरा कर टूट उठीं और कवि ने युग-व्यक्ति की थकान, उदासी, टूटन, प्यास, उल्लास, अस्वीकृति आदि के स्वरों को मुखर किया। इस प्रकार यह मूलतः रूमानी स्वर होते हुए भी एक नया स्वर था जो अपने को नये व्यक्ति की आकांक्षा से जोड़ कर अर्थ प्राप्त कर रहा था। यह इसकी शक्ति थी। साथ ही साथ यह धारा काव्य वैभव से भी सम्पन्न है। बच्चन, नरेन्द्र शर्मा के अच्छे गीत उच्च काव्य सौन्दर्य से मंडित हैं। साथ ही साथ अन्य धाराओं के भी कवियों की कुछ कृतियां इस धारा को ऐश्वर्यवान कर रही हैं। राष्ट्रीय सांस्कृतिक धारा के कवि दिनकर, नवीन और सोहनलाल द्विवेदी की कृतियां 'रसवंती', 'रश्मिरेखा', 'अपलक' और 'चित्रा' की अधिकांश कविताएं इसी धारा में आती हैं। व्यक्ति की तीव्र रूमानी चेतना और संवेग को ये कविताएं बहुत सीधी भाषा में व्यक्त करने में समर्थ हुईं। व्यक्ति की तीव्र संवेदनाएं तीव्र प्रत्यक्षरूप में अभिव्यक्ति पाने के कारण सुन्दर ताजे गीतों के रूप में फूट चलीं। यह कहा जा सकता है कि अपने समग्र रूप में छायावाद अधिक उपलब्धि का काव्य है किन्तु उत्तर छायावादी व्यक्तिवादी कविता अपने समग्र रूप में छायावाद की अपेक्षा अधिक सहज, लोक-संपृक्त और निश्छल है। किन्तु व्यक्तिवादी अनुभूतियां आगे चलकर स्वयं अपनी सीमाएं बन जाती हैं, अपने को दुहराने लगती हैं और अपनी ताजगी, शक्ति तथा अनिवार्यता खो देती हैं। यही बात इस धारा की कविताओं के बारे में कही जा सकती है।

प्रगतिवाद छायावाद की व्यक्तिवादी रूमानी चेनना के विरुद्ध समाजवादी यथार्थ की चेतना लेकर आया। यह धारा युग-चेतना की अभिव्यक्ति है। युगाकांक्षा से जुड़ी होने के कारण यह नवीन धारा अधिक जीवन-सम्पन्न है। इसने साहित्य के कथ्य, दृष्टिकोण, सौन्दर्यबोध और अभिव्यक्ति को सामाजिक जीवन से जोड़ कर अधिक क्षमता-सम्पन्न तथा व्यापक बनाया। इस तरह जहाँ तक साहित्य की जीवंतता, शक्ति, यथार्थता, लोकोन्मुखता का प्रश्न है प्रगतिवाद सबसे अधिक सामर्थ्यवान है। यद्यपि पुस्तकों के रूप में प्रगतिवादी कृतियाँ संख्या में थोड़ी हैं किन्तु पुस्तकों की संख्या की कमीवेशी महत्ता का मानदण्ड नहीं है। फुटकर रचनाओं के रूप में अनेक प्रगतिवादी कविताएँ तत्कालीन पत्र-पत्रिकाओं में बिखरी पड़ी हैं। प्रगतिवाद सामाजिक जीवन की शक्ति पाने के बावजूद समग्रभाव से अपनी साहित्यिक उपलब्धियों में अन्य धाराओं की अपेक्षा घट कर है। उसने नए कथ्य को कच्चे माल के रूप में लिया और उसी रूप में रख दिया। उस कथ्य को कवि अपने अनुभव

ग्रौर संस्कार की ग्रांच में गला नहीं सके ग्रौर न तो उसे कलात्मक ग्रभिव्यक्ति ही दे सके। शहरी ग्रभिजात संस्कारों ग्रौर ग्रनुभवों के लोग किसानों मजदूरों के संघर्षों की बात करके ग्रनुभवहीन, सिद्धांत-संचालित कविताएँ लिखने लगे जिनमें प्रचार का स्वर उभर कर ग्राने लगा। ग्रभिव्यक्ति कलात्मक भंगिमा, चित्रात्मकता, बिम्बात्मकता छोड़ कर वर्णन ग्रौर कथन पर उतर ग्राई। इसलिए इतनी क्षमता-सम्पन्न होकर भी यह धारा काव्यात्मक उपलब्धि में व्यक्ति-केन्द्रित धाराग्रों से पीछे रह गई।

प्रयोगवाद को यदि नई कविता से ग्रलग करके देखें तो उसका जीवन-काल बहुत ग्रल्प होगा, उसे १६४३ से १६५० तक मानना होगा। नई कविता से जुड़ कर प्रयोगवाद कृतियों ग्रौर काव्यात्मक उपलब्धि दोनों दृष्टियों से बहुत महत्वपूर्ण दिखाई पड़ेगा। यद्यपि प्रयोगवाद की बहुत सी मूलभूत बातें नई कविता में हैं किन्तु दोनों को पर्याय नहीं माना जा तकता। रूमानी व्यक्तिमूलक कविता की भावाकुलता, रूमानी दृष्टि, ग्रारोपित ग्रादर्शवादिता, भावुक ग्रभिव्यक्ति तथा प्रगतिवाद की यांत्रिक सामूहिकता, सपाट भाव-बोध तथा ग्रसंयत प्रचारात्मक ग्रभिव्यक्ति के परिप्रेक्ष्य में प्रयोगवाद की ग्रनुभूति-मूलक व्यक्तिवादिता, ग्रंतरस्थ ग्रनुभव-जन्य जटिल संवदेना, बौद्धिकता ग्रादि को शक्ति के रूप में ही स्वीकार करना होगा। नयी कविता ने प्रयोगवाद की इन शक्तियों का विकास किया किन्तु प्रयोगवाद ग्रपने ग्राप में ग्रपनी इन शक्तियों के बावजूद एक बहुत बड़ी सीमा लिये हुए ग्राया था। उसका व्यक्ति परिवेश से कटा हुग्रा व्यक्ति था ग्रौर वह यथार्थवादी तथा बौद्धिक होने के कारण ग्रपनी निजी यौन तथा ग्रन्यान्य कुंठाग्रों को साहस के साथ प्रस्तुत कर रहा था। ग्रनुभव उसका निजी ग्रनुभव था ग्रर्थात् परिवेश-विच्छिन्न व्यक्ति का ग्रनुभव। इसलिए वह तीव्र होकर भी न तो गतिशील हो सका ग्रौर न जीवंत ही। उसकी बौद्धिकता ने कहीं कहीं उसके भावबोध को ग्राक्रांत कर उसके प्रभाव को कुंठित कर दिया। बौद्धिकता के नाम पर भाषा ग्रौर भाव में एक नये प्रकार की कृत्रिमता उभरने लगी। प्रयोगवाद की कुछ मूलभूत बातों से जुड़ीहोकर भी नयी कविता उसका पर्याय नहीं है। नयी कविता में ग्रनुभूति की प्रामाणिकता की बात तो की गयी किन्तु उसकी ग्रनुभूति परिवेश से जुड़े हुए व्यक्ति की ग्रनुभूति है। नयी कविता ने सही ग्रर्थों में स्वाधीनता प्राप्ति के बाद के भारतीय समाज के यथार्थ को ग्रनुभव के स्तर पर भोगा ग्रौर ग्रभिव्यक्त किया। उसने सत्य का ग्रनुभव ही नहीं किया वरन्

अपनी बौद्धिक दृष्टि से अनुभवों का मूल्यांकन भी किया। इसलिए नयी कविता में न तो नग्न सत्य से पलायन है न उसकी भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति। उसमें भारतीय समाज के बनते बिगड़ते मूल्यों, सम्बन्धों, आकांक्षाओं के द्वन्द्व की तीखी पहचान है। इसलिए नयी कविता समग्र भाव से कवि के अनुभवों के माध्यम से युग और परिवेश के यथार्थ की कविता है।

उपर्युक्त विविध धाराओं का एक साथ विवेचन करें और उनकी उपलब्धियों का आकलन करें तो प्रतीत होगा कि साहित्य में केवल समय की गतिबिधियों या उसकी आकांक्षाओं, समस्याओं से सम्पृक्त होना ही पर्याप्त नही होता वरन् उन्हें अनुभव में आत्मसात करना होता है। इसके साथ ही परंपरा की जीवंत निधियों को पहचान कर समेटना होता है। परंपरा और वर्तमान के यथार्थ और मूल्यों, अनुभवों तथा विचारों को समेटने और व्यक्त करने का आधार रचनात्मक सौन्दर्य ही हो सकता है। इस रचनात्मक सौन्दर्य का आधार पाकर अपेक्षाकृत प्राचीन-बोध पर आधारित कृतियां अधिक उपलब्धि प्राप्त कर लेती हैं और इस आधार से रहित नये से नये बोध वाली कृतियां एक तात्कालिक सतही संतोष देकर चुक जाती हैं। जब हम आज के समय-बिन्दु पर खड़े होकर पीछे देखते हैं तो नयी कविता सबसे पास दीखती है, उसके पीछे प्रगतिवाद और फिर व्यक्तिवादी गीत कविता, राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता तथा छायावादी कविता। यह सच है कि सबसे पास दीखने वाली आज की कविता-नयी कविता—में गतिविधियां अधिक हैं तथा इतिहास के विकास का नवीनतम मोड़ होने के कारण वह अपने में उन नये अनुभवों और चिन्तनों को समेटे हुए है जो पिछले काव्य-मोड़ों के लिए ऐतिहासिक दृष्टि से संभव नहीं थे फिर भी क्या यह कहा जा सकता है कि रचनात्मक उपलब्धि की दृष्टि से नयी कविता अन्य पिछली धाराओं से आगे है?

वास्तव में कविता की मूल चेतना सौन्दर्य-चेतना है। यह चेतना अपने परिवेश से बनती और विकसित होती है किन्तु जब परिवेश प्रधान हो जाता है तब प्रगतिवाद की सतही रचनाओं की सृष्टि करता है और जब सौन्दर्य-चेतना परिवेश से कट जाती है तब वह व्यक्तिवादी अहम् की सृष्टि करती है। यह व्यक्तिवादी अहम् छायावाद और प्रयोगवाद दोनों में अलग अलग ढंग में देखा जा सकता है। जो रचनाएं परिवेश और कवि की सौन्दर्य-चेतना के समन्वित रूप को लेकर फूटती हैं वे अधिक स्वस्थ और सुन्दर होती हैं। इस दृष्टिकोण से साकेत, कामायनी, तुलसीदास, राम की शक्तिपूजा, कुरुक्षेत्र,

उर्वशी, उन्मुक्त, अंधायुग, आत्मजयी आदि कृतियों को समय की छोटी छोटी सीमाओं से मुक्त कर एक वृहत्तर समय के फलक पर रखा जा सकता है। दूसरी ओर निराला, पंत, नवीन, माखनलाल चतुरवेदी, बच्चन, नरेन्द्र, अंचल, अज्ञेय, केदारनाथ अग्रवाल, भवानी प्रसाद मिश्र, गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर आदि के व्यक्ति-चेतना स्पंदित गीतों या छोटी छोटी सुन्दर कविताओं को भी एक ही रचना-लोक में देखा जा सकता है। फालतू कविताएं हर धारा में हुई हैं। जो कविताएं अनुभूति की आंच से ऊष्म नहीं होंगी, जिनमें गहरे जीवन अनुभवों और सौन्दर्य-दृष्टि के स्थान पर उत्तेजना होगी या नकली बौद्धिकता होगी वे कविताएं कविता की दृष्टि से असफल और निरर्थक होंगी, वे चाहे छायावाद की हों चाहे प्रगतिवाद कीं, चाहे नयी कविता की। नयी कविता चूंकि सबसे निकट की धारा है इसलिये उसकी उपलब्धियों के साथ-साथ उसकी रचनात्मक व्यर्थताओं का भी अनुभव बहुत सरलता से किया जा सकता है।

इसलिए जब हम काव्य प्रवृत्तियों की सापेक्षिक शक्तियों आ आकलन करते हैं तब हमें यह देखना होता है कि वास्तव में कौन सी धारा जीवन को अधिक समीप से ग्रहण करती है तथा किसकी प्रकृति अधिक साहित्यिक है। उस धारा के अधिक जीवंत और साहित्यिक होने के बावजूद हो सकता कि उसमें महान कृतियां न सर्जित हो सकी हों। इसलिए महान प्रतिभाओं का प्रश्न भीं इसके साथ जुड़ा होता है। महान प्रतिभाएं सदा नहीं पैदा होती किन्तु धाराएं बदलती रहती हैं और महान व्यक्तित्वों के अभाव में भी उनका सामूहिक व्यक्तित्व महान कवियों वाली धाराओं के सामूहिक व्यक्तित्व से अधिक साहित्यिक, जीवन-संपृक्त और सुन्दर हो सकता है। प्रस्तुत अवधि की हिन्दी काव्य-धाराओं में नयी कविता का सामूहिक व्यक्तित्व निश्चय ही अधिक सामर्थ्यवान और जीवंत है। वैसे छायावाद को छोड़ दिया जाए तो शेष अन्यधाराओं में कोई बड़ा व्यक्तित्व नहीं दिखाई पड़ा। 'दिनकर' ही एक ऐसे कवि हैं जो एक बड़े काव्यव्यक्तित्व से सम्पन्न कहे जा सकते हैं किन्तु नयी कविता में भी अज्ञेय और मुक्तिबोध का काव्यव्यक्तित्व कम बड़ा नहीं है। जो भी हो 'नयी कविता' एक धारा के रूप में एक सामूहिक व्यक्तित्व के रूप में छायावाद के बाद की सबसे सशक्त और जीवंत काव्य-धारा है। वह हिन्दी काव्य-धारा की एक बड़ी उपलब्धि है—भावबोध, चिन्तन और शिल्प सभी दृष्टियों से, उसने जीवन को उसके बहुत गहरे और विविध रूपों में रूपायित किया है।

२

छायावाद

२. छायावाद

छायावाद अपने उन्मेषपूर्ण यौवन के दिन देख चुका था और अब अपने को युग की आकांक्षा और संवेदना के अनुकूल नहीं पा रहा था। यही कारण है कि छायावाद के श्रेष्ठ कवियों ने या तो लिखना बन्द कर दिया (जैसे महादेवी ने) या युगाकांक्षा के अनुरूप नया मोड़ दिया (जैसे पंत और निराला ने)। किसी धारा को नया मोड़ देने में और नयी धारा आरम्भ करने में अन्तर होता है। नयी धारा अपनी संवेदना, दृष्टि और अभिव्यक्ति-शक्ति में नयी होती है जबकि नया मोड़ पाने वाली धारा अपनी प्रकृति, भाषा और दृष्टि में पूर्ववत सी रह कर नये विषयों को ग्रहण करती है। इस लिए उनके पहले और बाद के रूप का संगम होता है। यह संगम वास्तव में प्रायः उपलब्धि न बन कर बेमेल खिचड़ी बन जाना है, उससे अच्छा होता है उसी धारा की समस्त संभावनाओं को उभार कर शक्ति के साथ प्रस्तुत करना। यही कारण है कि इस अवधि में लिखे गये निराला के शुद्ध छायावादी गीत या महादेवी की 'दीपशिखा' के गीत पंत की निरतंर विकासशील छायावादी कविताओं से अधिक सशक्त दिखाई पड़ते हैं। इस प्रकार प्रस्तुत कविताओं की व्याख्या से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि ये कविताएं दो रूपों में दिखाई पड़ती हैं (१) छायावाद की संभावनाओं से निर्मित कविताएं (२) नयी वस्तुओं और भावभूमियों को ग्रहण करती विकासमान छायावादी कविताएं।

पहले प्रकार की कविताओं में निराला और महादेवी वर्मा के श्रेष्ठ गीत हैं और सुमित्राकुमारी सिन्हा, विद्यावती कोकिल आदि नये छायावादी गीतकारों के पिष्टपेषित भावों वाले सामान्य गीत भी। दूसरे प्रकार में पंत की कविताएं आती हैं जो अपने छायावादी संस्कारों वाले व्यक्तित्व में प्रगतिवाद, अरविन्दवाद के सांस्कृतिक सामाजिक स्वर तथा यथार्थ को समेटने का प्रयत्न करती हैं। ये कविताएं अपने प्रयत्न में निश्चय ही बहुत स्तुत्य हैं किन्तु एक तो ये नये सिद्धान्तों को और जीवन-तथ्यों को अनुभव में पाग नहीं पातीं दूसरे नये जीवन-सत्यों के अनुकूल भाषा की खोज नहीं करतीं।

इसलिए वे काव्य की ऊंचाई नहीं प्राप्त कर पातीं। अपने मूल संस्कार से जुड़ नहीं पातीं। यह द्विधा की स्थिति उनके अनुकूल नहीं पड़ती।

वास्तव में इस अवधि के छायावाद का इतिहास मूलतः निराला और पंत के काव्य-विकास का इतिहास है। यों छायावाद की शैली में लिखने वाले और भी बहुत से लोग आये किन्तु उनमें अपना कोई उन्मेष नहीं। वे इस धारा को स्फीति भले ही दे सके हों कोइ वैशिष्ट्य नहीं प्रदान कर सके इसलिए उनकी चर्चा अनपेक्षित है। अच्छे गीतकार जानकीवल्लभ शास्त्री के गीतों का भी अपना ऐसा व्यक्तित्व नहीं बन सका जिसे छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की छाया से मुक्त किया जा सके। महादेवी जी की 'दीपशिखा' उनकी रचनाओं के क्रम में ही अगली कड़ी के रूप में आई, इसलिए उन्हें भी पहले की महादेवी से मूलतः अलग नहीं किया जा सकता और फिर उसके बाद तो मौन ही हो गयीं। इसलिए इस अवधि के छायावाद के विकास को समझने का अर्थ है निराला और पंत के काव्य विकास को समझना।

कहा जा चुका है निराला के गीत छायावाद से अलग न हट कर उसकी संभावनाओं से निर्मित हैं। किन्तु उनमें एक बहुत बड़ी शक्ति का विकास होता गया है वह है लोकोन्मुखता। किन्तु यह लोकोन्मुखता ओढ़ी हुई नहीं है वह निराला के संस्कार में है जिसका आभास आरम्भ से ही मिलता रहा है। अर्थात् निराला की छायावादी कविताओं में निराला का लोकोन्मुख व्यक्तित्व प्रारम्भ से ही झलकता रहा है। निराला का जीवन संघर्षमय तथा लोक संपृक्त रहा है इसलिए वे स्वभावतः प्रेम-सौन्दर्य के बोध के साथ साथ जीवन के अन्य अनुभवों को अपने में समेट लेते हैं और व्यक्तिगत प्रणय के ही गीत न गाकर लोक-जीवन के सुख-दुख को यातना और संघर्ष को गहराई से उभारते हैं और उनकी व्यक्तिगत प्रणयानुभूति भी एकांत वासिनी न रह कर प्रायः लोक गंध से उष्म हो उठती है। निराला की यह विशेषता प्रस्तुत अवधि में अधिक विकसित होती गई है। कि जब छायावाद इस अवधि के अन्य कवियों की कविताओं में अपना उन्मेष खो चुका था तब निराला की कविताओं में ताजगी बनाये हुए था।

निराला की कविताओं में यह लोकोन्मुखता दो रूपों में आई—(१) छायायाद से एक दम अलग हट कर कवि ने प्रगतिशील कविताएं लिखीं। इन कविताओं में छन्द, भाषा और भाव-भूमि सभी छायावाद के प्रभाव से मुक्त हैं। 'कुकुरमुत्ता', गर्म पकौड़ी, प्रेम संगीत, रानी और कानी, खजोहरा,

मास्को डायलाग्स, स्फटिक शिला और नये पत्ते की' अधिकांश कविताएं इस प्रकार की कविताएं हैं। इन कविताओं में प्रगतिशीलता अपने दार्शनिक रूप में नहीं है बल्कि लोकानुभूतियों के रूप में है। 'कुकुरमुत्ता' में अलबत्ता शोषक शोषित की धारणा उभारी गई है। अधिकांश कविताओं में आभिजात्य को तोड़ कर ठेठ लोक जीवन के बीच यात्रा करने की, उसके अनुभवों और सत्यों को उभारने की तड़प है। गरम पकौड़ी-सामान्य जनता का खाद्य है कवि कहता है :—

तूने पहले मुझको खींचा
दिल लेकर फिर कपड़े सा भींचा
तेरे लिये छोड़ी बम्हन की पकाई
मैंने घी की कचौड़ी—
ऐ गर्म पकौड़ी

इसी प्रकार प्रेम-संगीत में एक बम्हन के लड़के का कहारिन पर मरने का चित्र है।

'रानी और कानी' में एक कुरूप लड़की तथा उसकी मां की व्यथा का चित्र है। मां कानी को रानी कहती है कि लेकिन इस भावात्मकता के बावजूद वह इस यथार्थ से तो परिचित है ही कि इसकी शादी कैसे होगी ? और तब ?

सुनकर रानी का दिल हिल गया
कांपे सब अंग
दांई आंख से
आंसू भी बह चले मां के दुख से
लेकिन वह बाई आंख कानी
ज्यों की त्यों रह गई करती निगरानी

कहीं कहीं कवि ने प्रगतिशील बनने वाले अभिजात लोगों को विसंगतियों की बड़ी मीठी चुटकी ली है जैसे मास्को डायलाग्स में। श्रीगिडवानी बहुत बड़े 'सोश्यलिस्ट' हैं, 'मास्को डायलाग्स' लेकर मिलने आये हैं और कवि से देश के बड़े आदमियों की शिकायत करते हैं तथा उन्हें फांस कर अपना उपन्यास छपवाना चाहते हैं। कवि ने उपन्यास देखा। श्रीगणेश में मिला—

प्रिय असनेहमयी स्यामा मुझे प्रेम है।"

कवि ने कुकुरमुत्ता में गुलाब और कुकुरमुत्ता के माध्यम से शोषक शोषित वर्गों

का संघर्ष उभार कर रखा है और अपने लाभ के लिए जनता को उपयोग करने वाले शौकिया जनवादी लोगों पर मानो व्यंग्य करता हुआ माली के माध्यम के कवि कहता है—

फर्मा वें मुआफ खता
कुकुरमुत्ता उगाये नहीं उगता

और यह सच है कि अभिजात संस्कारों के कवियों के अनुभवों की वाटिका में शौकिया कुकुरमुत्ता नहीं उगाया जा सकता, जनता नहीं उगाई जा सकती।

निराला के अनुभव की वाटिका में कुकुरमुत्ता अपने आप उगा है— उगाया नहीं गया है। यहीं वे पंत से अलग दीखते हैं। यही कारण है कि निराला इन कविताओं में अलग है छायावाद से। इन कविताओं की भाषा लोक की है मुहावरे लोक के हैं, शैली लोक की है। इनमें लोक कथात्मक तथा संवादात्मक शैली का प्रयोग किया गया है। इस प्रकार निराला इस बात को समझते थे कि लोक जीवन को केवल उसके भाव, दृश्य, व्यापार में ही नहीं लिया जा सकता उसके लिए उसकी भाषा भी आवश्यक होती है, पंत इस बात को समझते हुए भी चरितार्थ नहीं कर सके।

छायावाद की परम्परा में आने वाली इनकी कृतियों में भाव, दृष्टि और विशेष की दृष्टि से कोई ऐसी नवीनता नहीं जिसे इस अवधि की विशेष देन कहा जा सके। यह नहीं कि इधर की कविताओं में वैविध्य नहीं है, निराला में तो वैविध्य आरम्भ से ही रहा है। इधर की छायावादी कविताओं में इन्होंने एक ओर तो स्वानुभूति-परक गीत लिखे हैं दूसरी ओर विजयलक्ष्मी पंडित, प्रेमानन्द जी, संत रविदास जी, प्रसाद जी, बुद्ध आदि, विविध-क्षेत्रों के व्यक्तियों पर कविताएं लिखी हैं। ये गीत कई तरह के हैं—इनमें प्रेम की संवेदना भी है और प्रार्थना-परकता भी। अन्य प्रकार की मानवीय संवेदनाएं भी इनमें व्यक्त हुई हैं। ये सारी बातें निराला की ३८ से पहले की कविताओं में भी हैं उनका अनुपात भले ही थोड़ा भिन्न हो। 'तुलसीदास' इस अवधि की इनकी विशिष्ट देन है। इसमें भारत को सांस्कृतिक और सामाजिक पराजय के गर्त से निकालने का संकल्प है। एक कृति के रूप में उपलब्धि होते हुए भी प्रवृत्ति के रूप में यह कोई नयी वस्तु नहीं है।

निराला की इस अवधि की नयी देन है उसकी लोकवादी कविताएं ये लोकवादी कविताएं वास्तव में कविता की उपलब्धि के रूप में नहीं स्वीकारी जा सकतीं वरन् वस्तु और भाषा के एक नये प्रयोग के रूप में ही

महत्व प्राप्त करती हैं। ये कविताएं एक ठहराव को तोड़ती हैं ग्रौर कवि को पुनः समग्र भाव से जनजीवन से जोड़ती हैं। जहां तक इनकी छायावादी कविताग्रों का प्रश्न है कहा जा सकता है कि दो ऐसी बातें हैं जो इनमें विशेष रूप से उभरती हैं (यद्यपि उनके बीज इनकी पहले की कविताग्रों में विद्यमान हैं) वे हैं—भाषा ग्रौर भाव की सापेक्षिक लोकोन्मुखता तथा भक्ति की ग्रोर विशेष झुकाव। स्वानुभूति मूलक गीत रचना तो छायावाद की विशेषता रही है। निराला की इस ग्रवधि की कविताओं में उनकी जीवनानुभूति के जो स्वर उभरे उनमें टूटन ग्रौर पराजय भी थी। यह टूटन पराजय कवि को भक्ति की ग्रोर उन्मुख करती है। साथ ही कवि का ग्रसंतुलित मानस प्रेम, भक्ति, खुलेपन ग्रौर उलझाव का कुछ ऐसा मिश्रित रूप प्रस्तुत करता है कि ये कविताएं उलझे प्रभाव से ग्रस्त हो जाती हैं।

पंत जी के इस काल के काव्य-साहित्य का विश्लेषण किया जाए तो ऐसा प्रतीत होगा कि ये ग्रपने चिंतन ग्रौर विषय में ग्रधिक विकास शील रहे हैं ग्रौर चूंकि ये ग्रपने संस्कार ग्रौर भाषा में मूलतः छायावादी ही रहे ग्रतः यह कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को इस ग्रवधि में नया चिन्तन ग्रौर नया विषय-जगत् प्राप्त हुग्रा है। १९३६ में युगान्त की घोषणा कर पंत ने १९३९ में युगवाणी ग्रौर १९४० में ग्राम्या की रचना की। कवि ने छायावाद को ग्रलंकृत संगीत मान कर नये दर्शन, नये विषय नये स्वर से ग्रपने काव्य को जोड़ना चाहा। इसलिए वे मार्क्सवाद के भौतिक दर्शन ग्रौर जन-जीवन के सत्यों की ग्रोर उन्मुख हुए। यहां निराला ग्रौर पंत के ग्रन्तर को समझ लेना चाहिए। निराला ने चिन्तन के माध्यम से नहीं संवेदना ग्रौर ग्रनुभव के माध्यम से जन-जीवन को ग्रहण किया इसलिए उनकी कविताग्रों में मार्क्सवाद या समाजवाद का दर्शन कोई स्पष्ट स्वरूप नहीं पा सका, जन-जीवन ग्रपने समस्त संवेदन के साथ उभरा। दूसरी ग्रोर पंत ने चिन्तन के स्तर पर मार्क्सवादी दर्शन को स्वीकारा। यह स्पष्ट है कि पंत कभी भी जन-जीवन के बीच से नहीं गुज़रे इसलिए जन-जीवन के यथार्थ संघर्ष, पीड़ा ग्रौर उल्लास को ग्रनुभव के स्तर पर नहीं जी सके थे। यही वजह है कि पंत मार्क्सवाद के स्वरूप को चिन्तन के स्तर पर अभिव्यक्ति देने में पूर्णतया सफल रहे हैं किन्तु जन-जीवन के यथार्थ ग्रौर ग्रनुभव-स्पंदित बिम्ब को सफलता से उभार नहीं सके हैं। वे प्रायः मार्क्सवादी सिद्धान्तों को ही व्यक्त करते रहे हैं—कहीं स्पष्ट रूप में कहीं प्रतीकों के द्वारा। 'ग्राम्या'

Sri Pratap Singh Library SRINAGAR

में वे गांव के जीवन के यथार्थ को समझने और उसे स्वर देने की ओर अग्रसर हुए हैं। कहना न होगा कि कवि ने मार्क्सवादी दृष्टि के आलोक में गांव के जीवन की विविध यथार्थ-छवियों का बड़ा सुन्दर चित्र अंकित किया है। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कुशल शिल्पी पंत ने गांव के जीवन यथार्थ को जितना उसके रूप-रंग में पकड़ा है उतना भीतर की चेतना में नहीं।

प्रगतिवाद छायावाद से एक अलग धारा है। प्रश्न होता है कि पंत की इन प्रगतिशील कविताओं को छायावाद का एक नया विकास माना जाए या सर्वथा एक अलग धारा। निराला के सन्दर्भ में मैंने कहा है कि उनकी प्रगतिशील कविताएँ उनकी छायावादी कविताओं से एक दम कट कर अलग हो जाती हैं अतः उन्हें उनकी छायावादी कविताओं का एक नया विकास नहीं माना जा सकता। पंत के सन्दर्भ में यह बात ठीक नहीं जंचती अर्थात् उनकी प्रगतिशील कवितएं उनकी छायावादी कवितओं से सर्वथा मुक्त न होकर उन्हीं का एक विकास मालूम पड़ती हैं। कारण यह है कि प्रगतिशील कविता जिस एक नये संस्कार और भाषा की अपेक्षा रखती थी वह पंत में नहीं है, केवल चिन्तन से संस्कार नहीं बदलते, उनके लिए अनुभव के स्तर पर अभिप्रेत सत्य का साक्षात्कार आवश्यक होता है और इसके बिना उस सत्य से सम्बद्ध भाषा भी नहीं मिलती। पंत ने यह बात समझी थी तभी उन्होंने घोषणा की थी—

तुम वहन कर सको जन मन में मेरे विचार।
वाणी तुमको चाहिए और क्या अलंकार॥

और इस घोषणा के अनुसार कवि ने अपनी प्रगतिशील कही जाने वाली कविताओं की भाषा को अपेक्षाकृत सरल बनाने का प्रयत्न किया था किन्तु यह भी तो है कि भाषा केवल कवि के ही विचार जन मन तक प्रेषित नहीं करती परन्तु जन मन के सत्य को भी कवि तक ले जाती है। इसलिए यदि कवि जनजीवन की भाषा को पकड़ने में असमर्थ रहता है तो इसका अर्थ यह है कि उस भाषा से रूपायित होने वाले जनजीवन के विविध आंतरिक बिम्बों को पकड़ पाने में सफल नहीं हो सकता। यह सच है कि पंत संस्कार और भाषा के स्तर पर जन-जीवन को पा लेने में समर्थ नहीं हुए हैं, उनके संस्कार (चिन्तन के स्तर पर नहीं, अनुभव के स्तर पर) छायावादी हैं और भाषा भी छायावादी है।

यह बात तब और भी स्पष्ट हो उठती है जब वे ग्राम्या से आगे की यात्रा में अरविन्द-दर्शन से प्रभावित हो उठते हैं। बीच में प्रगतिवाद के भौतिक दर्शन की ओर भटके हुए उनके विचार पुनः आध्यात्मिक लोक की ओर उठने लगते हैं। छायावादी संस्कार और भाषा दोनों पुनः अपनी परिधि में आश्वस्त हो उठते हैं, किन्तु विचार के स्तर पर छायावाद को एक नयी दिशा प्राप्त होती है। कवि मार्क्स के भौतिकवाद से संतुष्ट नहीं है किन्तु उसे आवश्यक भी मानता है। कवि आरम्भ से ही मनुष्य-मात्र के सुख, प्रेम, शांति का स्वप्न देखता रहा है। इस वायवी स्वप्न को उसने रूप देना चाहा तो उसे मार्क्सवाद दिखाई पड़ा किन्तु पुनः उसे ऐसा लगा कि मार्क्सवाद एकांगी है केवल भौतिक योग क्षेम की व्यवस्था कर सकता है। कवि इसे आवश्यक मानता हुआ भी पर्याप्त नहीं मानता और अरविन्दवाद में उसे भौतिकवाद तथा अध्यात्मवाद का समन्वय दिखाई पड़ा है। कवि ने 'स्वर्ण-किरण', 'स्वर्णधूलि', 'शिल्पी' 'लोकायतन' आदि परवर्ती कृतियों में इसी समन्वय को स्वर देना चाहा है।

पंत बहुत ही जागरूक विचारक और सचेत स्वप्न-शिल्पी हैं। अतः ये अपने युग के विचारो को अपनाते रहे हैं साथ ही युग की यथार्थ विभीषिका में छटपटाते मानव समाज को सुन्दर और शिव रूप देने का स्वप्न देखते रहे हैं। 'ज्योत्स्ना' का स्वप्न, प्रगतिशील कविताओं में उभरता सामाजिक समता और भौतिक स्वास्थ्य का स्वर तथा अरविन्द दर्शन से प्रभावित कविताओं की समन्वयवादी दृष्टि कवि की निरंतर विकसनशील चिन्तना तथा मानव-मंगलाकांक्षा को सूचित करती है। इस यात्रा में शुद्ध सौन्दर्य और आनंद को व्यक्त करने वाली प्रकृति क्रमशः कवि की चिन्तना और स्वप्न की प्रतीक या परिवेश बनती गई है। 'पल्लव' और 'गुंजन' की प्रकृति तथा 'ग्राम्या', 'स्वर्णकिरण' 'स्वर्ण धूलि', 'उत्तरा' आदि की प्रकृति में यह अन्तर देखा जा सकता है। इस प्रकार क्या प्रकृति, क्या मानव-जगत, क्या भावलोक क्या विचार, पंत के परवर्ती काव्य में सभी नये रूप में दिखाई पड़ते हैं। कहा जा सकता है कि पंत के माध्यम से छायावाद को यथार्थ भाव और विचार के नये आयाम प्राप्त हुए हैं।

किन्तु इस विकास यात्रा में पंत का काव्य-पक्ष आहत होता गया है धारणा पक्ष उठता गया है। कारण यही है कि वे मानव समाज की समस्याओं और उनके समाधान, नये विचार और दृष्टि को धारणा और

आकांक्षा के स्तर पर स्वीकार करते हैं अनुभूति के स्तर पर नहीं। इसलिए चाहे मार्क्सवाद हो, चाहे अरविन्दवाद पंत-काव्य को समृद्ध बनाने में समर्थ नहीं हुआ है। अरविन्दवादी धारणाओं को भी कवि ने रूपक या प्रतीक के माध्यम से व्यक्त किया है और स्थान स्थान पर आकांक्षा, आशीर्वाद और उद्बोधन की झड़ी लगा दी है। स्वर्ण, रजत जैसे कुछ विशेषणों की इतनी आवृत्ति की है कि वे अर्थहीन लगने लगते हैं। होते होते यह हुआ कि पंत-काव्य मानव-संवेदना का काव्य न रह कर रूढ़ियों, रहस्यों और धारणाओं का काव्य बन गया है और इस संवेदनशून्यता के विस्तार में 'अह धरती कितना देती है' 'बांध दिये क्यों प्राण प्राणों से' जैसी कुछ प्राणवान कविताएं कितनी सुखद प्रतीत होती हैं।

महादेवी वर्मा की दीपशिखा' में उनकी क्रमागत भावधारा का ही उत्कर्ष दिखाई पड़ता है। प्रेम उनका मुख्य विषय है। कवयित्री ने संयोग और वियोग में उभरने वाले प्रेम के अनेक कोणों को अपने अनुभव के आलोक में देखा है। वेदना महादेवी की मूल संवेदना है यह वेदना विरहजन्य है। करुण वेदना और निराशा से आक्रान्त इनका प्रारंभिक काव्य 'दीपशिखा' में कुछ आलोक पा सका है—आशा का, उल्लास का, मिलन का। एक प्रश्न बार बार उठता है कि महादेवी के प्रेम और उसके विरह-मिलन की अनुभूतियां लौकिक हैं या पारलौकिक। वास्तव में इन अनुभूतियों के पारलौकिक होने का कोई तर्क समझ में नहीं आता। ये लौकिक अनुभूतियां ही हैं जिन्हें संकोचवश खोलकर नहीं रखा गया है। एक रहस्यात्मकता का आभास उन्हें यहां से वहां तक ढके है। महादेवी में गीत काव्य के उत्कर्ष की सुन्दर संभावनाएं हैं लेकिन यह रहस्यात्मकता का आवरण उनके प्रभाव की तीव्रता को कुछ कुंठित कर देता है। कवयित्री के पास सीमित संवेदनाएं हैं इन्हें वह भिन्न भिन्न प्रतीकों और रूपकों से व्यक्त करती है। ये प्रतीक और रूपक भी बहुत सीमित और अभिजात हैं। कवयित्री की लौकिक संवेदनाएं रहस्यवादी आभास से लिपट कर निश्चय ही नये अर्थ का विस्तार करती हैं किन्तु साथ ही अपनी लौकिक मूर्तता, प्रत्यक्षता और तीव्रता खो देती हैं। दीप, चन्दन, मन्दिर, क्षितिज, आकाश, करुण, धूल, मेघ, विद्युत, सागर, आदि प्रतीक और शब्द बार बार आते हैं और रहस्यात्मक संकेत में उलझ जाते हैं। महादेवी की संवेदनाएं और प्रतीक परिवेश से विच्छिन्न होने के करण वैविध्य तथा प्रत्यक्षता नहीं प्राप्त कर पाते। इसलिए जब कवयित्री

अपनी व्यथा सागर, बादल, दीप आदि में देखती है तो लगता है कि वह अपनी व्यथा की केन्द्रीय सघनता को सायास चारों ओर फैलाकर उसकी लौकिक मांसलता को कम करना चाहती है या उसे एक रहस्यवादी रूप देकर आध्यात्मिक गरिमा से मंडित कर रही है। प्रायः लगता है कि उसकी व्यथा सहज भाव से तड़प कर बादल सागर आदि में व्याप्त नहीं होजाती वरन् कवयित्री बड़े कौशल के साथ बादल, सागर, विद्युत आदि का आयोजन करती है।

'दीपशिखा' में 'पंथ रहने दो अपरिचित', 'हुए शूल अक्षत मुझे धूलि चन्दन' आदि कविताओं की पंक्तियों में करुण कथन तथा निराशा के भीतर से आशा, संकल्प, मिलन-सुख आदि का स्वर उभारा गया है। प्रश्न होता है कि यह उत्कट संकल्प और संघर्ष किस सन्दर्भ में है? आध्यात्मिक अर्थ में वह साधक की अटूट साधना का परिचायक हो सकता है—किन्तु लौकिक अर्थ में ये दुःखव्रती निर्माण उन्मद पद किस व्रत और निर्माण की बात करना चाहते हैं, ये किस प्रकार तिमिर में स्वर्ण बेला बाँध लेना चाहते हैं? व्यक्ति के सन्दर्भ में यह आकांक्षा से अधिक कुछ नहीं ठहरता। निर्माण, संघर्ष, प्रकाश की खोज के लिए सामाजिक भूमिका आवश्यक होती है। यह सामाजिक भूमिका इन कविताओं में स्पष्ट नहीं है, स्पष्ट है केवल एक व्यक्ति का निजी परिधि में सुख-दुःख झेलते रहने का भाव। इन सारे संकल्पवादी शब्दों का कोई बिम्ब नहीं उभरता, ये मात्र अर्थ-बोध कराते हैं।

इन निजी और छायावादी सीमाओं के बावजूद महादेवी जी छायावाद की विशिष्ट और समर्थ कवयित्री हैं और 'दीपशिखा' उनकी विशिष्ट कृति। महादेवी के गीत गीत की दृष्टि से समस्त छायावादियों के गीतों में अपना विशिष्ट ही नहीं, श्रेष्ठ स्थान रखते हैं। रहस्य और संकोच के आवरण के बावजूद कवयित्री की अन्तरंग निजता गीतों में बहती रहती है। जहाँ कहीं वह पारदर्शी हो जाती है या जहाँ समग्र दृश्य सिमट कर उसी की ओर संकेत करने लगते हैं वहाँ वह बहुत उत्कृष्ट गीतों की रचना करती है। कवयित्री की मूल काव्य संवेदना करुणा और व्यथा अपनी सघनता और तरलता में बहुत प्रभविष्णु हो जाती है, वहाँ पीड़ा के बिम्ब पर बिम्ब उभरते चले जाते हैं। वैसे देखा जाय तो यह विशेषता खंडित रूप में उनके अधिकांश गीतों में है। किन्तु 'जो न प्रिय पहिचान पाती', 'कहाँ से आए बादल कारे', 'मेघ-सी घिर-कर चली', 'अलि कहाँ सन्देश भेजूँ', 'झिप चलीं पलकें तुम्हारी पर कथा है

शेष', 'धूप-सा तन दीप-सी मैं', जैसी कविताएँ समग्रत: इस विशेषता से दीप्त हैं। महादेवी की दूसरी विशेषता है सूक्ष्म चित्रात्मकता। ये चित्र रूपजगत् और भावजगत् दोनों के हैं किन्तु रूपजगत् के चित्र भी कवयित्री के मानसिक सन्दर्भ में नहीं होते हैं। जहाँ ये चित्र कोई गहन व्यथा उभारते हैं वहाँ अपनी सूक्ष्मता में भी पारदर्शी तथा प्रभावशाली हो जाते हैं, अन्यथा अवस्था में अपनी निरीक्षणगत बारीकियों के बावजूद अपनी सार्थकता सिद्ध नहीं कर पाते, वायवी और आरोपित लगते हैं। कुछ चित्र तो बहुत ही ताज़े और संश्लिष्ट अनुभव बिम्बों से रचित हैं—किरण के निर्झर झुके, सिन्धु चलता मेघ पर, रुकता तड़ित का कंठ गीला, गिरि कपोलों पर न सूखी आँसुओं की रेख, उड़ रहे यह पृष्ठ पल के, धूप मयी बीथी बीथी में लुक-छिपकर विद्युत सी रोई, पुतली ने आकाश चुराया। लोक-परिवेश और लोक-भाषा से दूर, सीमित आत्मानुभूति की परिधि में विचरण करने वाले, भाषा की अभिजात छवि से मंडित ये गीत शब्द-चयन, पद-संतुलन, प्रांजलता, कोमलता और स्वर-लय में बहुत विशिष्ट हैं।

३

व्यक्तिवादी गीतकविता

३. व्यक्तिवादी गीतकविता

सन् १९३५ के पश्चात् छायावादी कविता का विरोध दो दिशाओं से आरम्भ हुआ—एक तो स्वयं उसी को रूमानी धारा में उभरनेवाली प्रत्यक्ष, निर्भीक, व्यक्ति-संवेदना को निश्छल अभिव्यक्ति देनेवाली व्यक्तिवादी कविता की ओर से, दूसरे सामाजिक जीवन के सत्यों से प्रेरित होकर निर्मित होनेवाली प्रगतिवादी कविता की ओर से। पहली धारा को व्यक्तिवादी गीतकविता कहा जा सकता है।

छायावादी कविता व्यक्तिपरक संवेदना की कविता है (अर्थात् उसके भी केन्द्र में कवि का अपना अनुभव संसार ही है, परंपरा द्वारा गृहीत या सिद्धांतपरिचालित अनुभवहीन महत् जीवन का आरोपण नहीं) किन्तु उसकी व्यक्तिपरकता अपनी प्रकृति और अभिव्यक्ति दोनों में बहुत वायवी और अस्पष्ट है। छायावाद का कवि स्वच्छन्द रूप से सौन्दर्य के अनुभव को भोगता और व्यक्त करना चाहता है किन्तु वह ऐसा करने ~~करने~~ का साहस नहीं कर पाता। इसलिए वह प्रेम और सौन्दर्यानुभूति को या तो घुमा-फिराकर कहता है, या रहस्य के आवरण में लपेट कर कहता है या प्रकृति के रूपक के माध्यम से कहता है या फिर (प्रबन्धकाव्यों में) पात्रों के माध्यम से व्यक्त करता है। अपने उद्दाम सौन्दर्यानुभव को प्रायः एक आदर्शवादी मोड़ दे देता है। इन अनेक कारणों से उसकी अत्यन्त आत्मिक अनुभूतियाँ भी तीव्रता से नहीं फूट पातीं, उसके बिम्ब स्पष्ट रूप से उभर नहीं पाते। गीत भावसम्पन्न होते हुए भी तीव्र प्रभाव की सृष्टि नहीं कर पाते। कवि का संकोच, सामाजिक मर्यादा का आतंकबोध और इसलिए बात को घुमा-फिराकर कहने की प्रवृत्ति या उसे अनावश्यक रूप से रहस्य या आदर्श से जोड़ने की चेष्टा बात को उलझा देती है। उलझी अभिव्यक्ति या बिम्बों की जटिलता कृत्रिमता का भी परिणाम होती है और सूक्ष्म, जटिल भावबोध और सौन्दर्यचेतना का भी। कहना न होगा कि छायावाद के श्रेष्ठ कवियों की दृष्टि स्थूल के विस्तार पर फिसलने के स्थान पर सूक्ष्म की गहराई में उतरना चाहती थी। वह भाव और सौन्दर्य के सूक्ष्म स्तरों को पहचानना और व्यक्त करना चाहती थी। इसलिए छायावाद की कविताएँ जहाँ अनुभूति

के सघन और संश्लिष्ट बिम्ब तथा भाव-प्रेरित सूक्ष्म लाक्षणिक अभिव्यक्ति के कारण उच्चतम स्तर पर प्रतिष्ठित हो जाती हैं वहाँ अन्यथा होने पर वायवी, मिथ्या और अमूर्त प्रभाव से ग्रस्त होकर रह जाती हैं। छायावाद में व्यक्ति की अनुभूति की तीव्रता क्रमशः कुन्द प्रभाव पैदा करने वाले सुख-दुःख, रुदन-हास, आशा-निराशा के फारमूलों में बदलती गई और अनुभव की प्रामाणिकता तथा वैशिष्ट्य के स्थान पर एक प्रकार का कोहरा फैलता गया जिसमें कोई शकल उभरती लक्षित नहीं होती।

छायावादोत्तर व्यक्तिवादी गीतकवियों ने अनुभव और अभिव्यक्ति की इस अमूर्तता, वायवीपन, रहस्यमयता तथा संकोच के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया। इन कवियों में तथा छायावादी कवियों में दृष्टि और विषय की बड़ी समानता है। इन कवियों की भी दृष्टि रूमानी है, वस्तुजगत् के प्रति इनकी भी प्रतिक्रिया अत्यन्त भावात्मक है। ये भी वस्तुजगत् से नहीं, वस्तुजगत् की प्रतिक्रिया से उत्पन्न अपने निजी सुख-दुख के आवेग से सम्बद्ध थे, इसलिए इनकी कविताओं में भी भयंकर आत्म-संपृक्ति और उत्तेजना मिलती है। इनका भी विषय मूलतः सौन्दर्य और प्रेम तथा तज्जन्य उल्लास और विषाद की अनुभूति है। इनकी भी अभिव्यक्ति का प्रमुख माध्यम गीत ही है क्योंकि इनके भी काव्य-विषय की प्रकृति छायावादी काव्य की प्रकृति के समान गीतात्मक है। किन्तु इन कृतियों में छायावादी कविता का-सा संकोच, रहस्यमयता और आदर्शवादिता नहीं है. साहस के साथ सीधे साफ तौर पर अपने निजी प्रेमसंवेग तथा सुख-दुःख को कहने की आकुलता है। इनकी वेदना छायावाद की घिसती हुई वेदना की तरह सामान्य नहीं, वरन् निजी प्रतीत होती है। अतः उससे अनुभव का एक विशिष्ट बिम्ब उभरता लक्षित होता है, यह अवश्य है कि इनके ये अनुभव-बिम्ब छायावाद के सुन्दर अनुभव-बिम्बों के समान सूक्ष्म, संश्लिष्ट और गहरे नहीं हैं, किन्तु जो कुछ है वह छल नहीं ओढ़ता, उघड़े ही रूप में उभर कर सहज प्रवाह का सुख देता है। छायावादी कविता भी प्रायः 'मैं' के माध्यम से अपना अनुभव उभारती है और व्यक्तिवादी गीतकविता भी। किन्तु छायावाद का 'मैं' संकोच या मर्यादातंक अनुभव करने के कारण तीव्रता से आलोकित होने के स्थान पर मन्द-मन्द दीप्त होता है जबकि व्यक्तिवादी गीतकविता का 'मैं' अपने समूचे राग-विराग के साथ निर्व्याज भाव से फूट चलता है।

व्यक्तिवादी गीत कविता की प्रवृत्तियों को समझने के लिए ऐतिहासिक, सामाजिक परिस्थितियों की ओर दृष्टिपात किया जा सकता है। डा० नगेन्द्र

ने इस धारा की प्रवृत्ति के लिए उत्तरदायी कुछ कारणों की ओर संकेत किया है। आपका मत है कि '३१ के सत्याग्रह आन्दोलन की विफलता से देश की चिन्ताधारा आदर्शवाद से कुछ भिन्न-सी होने लगी। समाज में कुछ ऐसे तत्त्व धीरे-धीरे उभरने लगे जो गांधीजी के आदर्शवाद से असंतुष्ट होकर यथार्थ समस्याओं का यथार्थ समाधान चाहते थे। राजनीति में गांधीवाद के विरुद्ध वामपक्षीय समाजवादी चिन्ताधारा का धीरे-धीरे आविर्भाव होने लगा और यह प्रभाव स्वभावतः राजनीति से आगे बढ़कर सामाजिक और बौद्धिक जीवन पर भी पड़ने लगा। आर्थिक विषमताओं ने—बेकारी, भुखमरी आदि ने—उसे और प्रोत्साहन दिया। इसके फलस्वरूप सूक्ष्म आदर्शपरक जीवन के प्रति अनास्था और स्थूल यथार्थपरक जीवन के प्रति आस्था बढ़ने लगी। विश्वास की भूमि डगमगाने लगी और विद्रोह एवं संदेह के अंकुर फूटने-फैलने लगे। वास्तव में व्यक्तिवादी गीत-कविता साम्यवाद की कविता नहीं है। इन कवियों का राग और चिन्तन समाज से सम्बद्ध नहीं है, अपने में ही केन्द्रित है। इसलिए इस धारा को इसकी समकालीन प्रगतिवादी धारा से अलग करके देखा गया। फिर उपर्युक्त उद्धरण में साम्यवाद के साथ इसे कैसे जोड़ा गया? वास्तव में डा० नगेन्द्र ने इस धारा को साम्यवाद की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं आंशिक अभिव्यक्ति माना है। वे आगे स्पष्ट करते हैं—साम्यवाद की रूपरेखा भारतीय नवयुवकों के मन में स्पष्ट नहीं थी। उसकी धुँधली आभा भर उन्होंने देखी थी, प्रकाश उनकी आँखों में नहीं उतरा था। उसका असन्तोष, विद्रोह और अनास्था तो उन्होंने ग्रहण कर ली थी परन्तु उसकी सामाजिक चेतना का आभास उन्हें नहीं हुआ था। परिणाम यह हुआ कि वामपक्षीय चिन्ताधारा से उस समय तक व्यक्तिवाद को उभार ही मिला। व्यक्तितत्त्व के सामाजिक उन्नयन की आवश्यकता का अनुभव तब तक नहीं हुआ। डा० नगेन्द्र ने दूसरा कारण यह दिया है कि क्रमशः संयुक्त परिवार टूटने लगे थे और विभक्त परिवारों के अस्तित्व में आने से व्यक्तिवादी भावनाओं के विकसित होने का पूर्ण अवसर प्राप्त हुआ। शिक्षित समुदाय अपने पैतृक व्यवसाय को छोड़कर अपने घर से अलग रहकर अपनी रुचि के अनुसार कार्य खोजगे लगा तथा पैसे अर्जित कर 'स्व' की महत्ता का अनुभव करने लगा। दर्शन के क्षेत्र में बहुवाद के स्थान पर एकेश्वरवाद अथवा अद्वैतवाद की पुनः प्रतिष्ठा को भी डा० साहब ने व्यक्तिवाद के प्रादुर्भाव का कारण माना है।

यदि हम इस धारा में आने वाली कृतियों की प्रवृत्तियों का विश्लेषण करें तो ज्ञात होगा कि प्रेम इनकी केन्द्रीय वृत्ति है। यह प्रेम स्पष्ट रूप से लौकिक है और लौकिक रूप में ही व्यक्त होता है। प्रेम के संयोग-वियोगजन्य उल्लास, पीड़ा, उदासी, टूटन, असन्तोष आदि का सघन स्वर इन कविताओं में मुखर हुआ है। परिस्थिति, अनुभव और संस्कार के अनुसार कवियों के स्वरों में भिन्नता अवश्य है किन्तु मूलवृत्ति में अन्तर नहीं। इनका प्रेम किसी लौकिक सौन्दर्य-आलम्बन पर ठहरा होने के कारण अधिक मूर्त रूप धारण करता है। यह भी सही, वह भी सही की ध्वनि इनमें नहीं है, एक निश्चित रूप, भाव और प्रभाव फूटता है इनमें से। चूंकि प्रेम लौकिक है, प्रत्यक्ष है, इसलिए उसका उल्लास और व्यथा भी बहुत मूर्त और स्पष्ट है। इनका हर्ष-विषाद न तो आदर्श का छल ओढ़ता है और न धरती-आकाश के बीच झूलता है, वह शुद्ध धरती पर यात्रा करता है—धरती के परिवेश के बीच, और अपने-अपने रूप में बहुत ही उघड़ा हुआ होता है। बच्चन के 'निशा निमंत्रण', 'एकान्त संगीत' काव्य यदि प्रेम के अवसाद के घनत्व को मुखर करते हैं तो मिलन यामिनी' मिलन की मादकता और उमंग को। नरेन्द्र शर्मा के 'प्रवासी के गीत' में यदि लौकिक विरह की व्यथा की प्रधानता है तो अन्य कृतियों में प्रेयसी के सौन्दर्य, भोग और संयोग की उष्मा के भी मादक चित्र हैं। इसी प्रकार अंचल, नवीन, दिनकर आदि की इस धारा में आने वाली कृतियों के बारे में कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में कुछ कविताएँ द्रष्टव्य हैं—

कितनी रातों को मन मेरा
चाहा, कर दूं चीख सवेरा
पर मैंने अपनी पीड़ा को चुपचुप अश्रु कणों में घोला
मध्य निशा में पंछी बोला (एकान्त संगीत)

क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान !
नाम ले लेकर हमारा, खींचता आंचल तुम्हारा
क्या कभी सुनसान ?
राह चलते कभी मुड़कर
देख उजड़े हुए खंडहर
क्या कभी बिछुड़े हुए की
याद आती तुम्हें पल भर ?

खंडहरों में घूमने वाली हवा क्या
सुना जाती तुम्हें मेरे गान ? (प्रवासी के गीत)

वास्तव में इस धारा की कृतियों का मूल स्वर प्रेम है और प्रेमजन्य व्यथा तथा उदासी यहाँ से वहाँ तक व्याप्त है किन्तु अनेक स्थलों पर प्रेम के सन्दर्भ से मुक्त होकर भी उदासी, टूटन आदि के भाव मुखर हुए हैं। प्रेम के सन्दर्भ में कहा जा सकता है कि इनकी स्वच्छन्द वृत्ति सौन्दर्य और प्रेम की भूख लिए उड़ती थी, वह भूख तृप्त नहीं हो पाती थी, स्वच्छन्द उड़ान सामाजिक प्रतिबन्धों से टकराती थी और टूट कर विरह की पीड़ा बन जाती थी। कवि अनुभव करता था कि संसार को उसके ये गान वासना के गान लग रहे हैं और इसलिए उसे स्वीकार्य नहीं है। किन्तु कवि इन्हें अपने अनुभव का गान मानता था, इन अनुभव-सत्यों को उसका स्वच्छन्द हृदय, अनियंत्रित भाव से गाना चाहता था, वह अपने और समाज के इस तनाव को स्पष्ट अनुभव करता हुआ गा पड़ता था—

कह रहा जग वासनामय
हो रहा उद्गार मेरा
बृद्ध जग को क्यों अखरती
है क्षणिक मेरी जवानी
मैं छिपाना जानता तो
जग मुझे साधू समझता
शत्रु मेरा बन गया है
छलरहित ब्यवहार मेरा
कह रहा जग··· (मधुकलश)

है चिता की राख कर में
माँगती सिन्दूर दुनिया
आज मुझ से दूर दुनिया (निशा निमंत्रण)

वह अपनी अबाध सौन्दर्य-पिपासा और संसार की क्रूरता की टकराहट से उत्पन्न विषाद को कभी-कभी नियति शासित भी मान लेता है इसलिए बार-बार नियति का विधान भी उसके मार्ग में आता दीखता है। संसार तो एक प्रत्यक्ष शक्ति है। उसके विरुद्ध ललकार भी उठायी जा सकती है किन्तु नियति तो एक अज्ञात सत्ता है। उसके प्रति समर्पण के सिवा और कुछ नहीं

सूझता और इस प्रकार पीड़ा के घनत्व को और अधिक गहराई से अनुभव करने के सिवा कुछ शेष नहीं बचता। किन्तु इन कवियों ने नियति की सत्ता को स्वीकार करते हुए भी कभी प्रत्यक्ष, कभी परोक्ष भाव से उसके विरुद्ध अपनी जिजीविषा का स्वर मुखर किया है। नरेन्द्र शर्मा विशेषतया नियति से अपने को शासित अनुभव करते हैं। इसलिए उनके व्यक्तिगत प्रेम की उदासी जैसे उनके समस्त परिवेश और समूचे जीवन की उदासी बन कर छा जाती है किन्तु नियति के क्रूर शासन में भी कोई जीवनेच्छा उन्हें सँभाले रहती है :—

> साँझ होते ही न जाने छा गई कैसी उदासी
> क्या किसी की याद आई, ओ विरह व्याकुल प्रवासी
> ओ निराश्रित ! नियति शासित ! व्यथित क्यों जब तक मही है
> धूलि-कण, तृण को सदा जो आसरा देती है।

× × ×

> विश्व में अपवाद हूँ, उपहास हूँ निष्ठुर समय का
> हथकड़ी बेड़ी बना दीं नियति ने सब कामनाएँ
> दीन बन्दी हूँ सुमुखि, पर भृकुटि संचालन करो तो
> तोड़ सकता हूँ निमिष में विश्व की सब शृंखलाएँ

(प्रवासी के गीत)

इस धारा की कृतियों में निराशा और उदासी का जो स्वर है वह केवल प्रेममूलक नहीं है, वह जीवन के अन्य संदर्भों में भी मुखर हुआ है। यों कहा जा सकता है कि इन कृतियों का प्रमुख स्वर (चाहे वह किसी परिप्रेक्ष्य में हो) निराशा का है, अवसाद का है, थकान का है, टूटन का है। इसका कारण सामाजिक संदर्भों में भी ढूँढा जा सकता है। देश की पराधीनता, सामाजिक रूढ़ियों, आर्थिक रिक्तता के भयंकर अहसास से गुज़रता हुआ अकेला, स्वच्छन्द, सवेदनशील, युवामानस बार-बार अपने को टूटता हुआ पा रहा था, उसका व्यक्तिवादी आक्रोश-स्वर सारी असुन्दर वस्तुओं को अस्वीकार करता हुआ और स्वयं कहीं स्वीकृत न होता हुआ अपने ही में लौट आता था और आत्मपीड़न, टूटन, कुंठा की एक नयी पर्त लपेट लेता था और उसे गा चलता था। इसलिए इन कवियों का पूरा जीवन उदासी और निराशा के रंग में रँगा दिखाई पड़ता है। इनके पास जीवनदृष्टि नहीं थी—न तो पुरानी आध्यात्मिक जीवनदृष्टि और न तो नवीन समाजवादी दृष्टि। वे केवल अपने

अनुभवों से परिचालित हो रहे थे, उनके अनुभव भावुक हृदय के अनुभव थे, उनकी दृष्टि रूमानी थी अतः वे व्यक्ति को न तो सामाजिक शक्ति से जोड़ सके, न आध्यात्मिक आदर्शों से। जीवनदृष्टि के अभाव में ये व्यक्तिवादी अनुभव, निराशा, क्षण, मृत्यु की छाया, नियतिबोध से ग्रस्त हैं। ये अनुभव जहाँ अपनी तीव्रता में, सूक्ष्म परन्तु खुले हुए बिम्बों की रचना में एक नये साहित्यिक सौन्दर्य की सृष्टि करते हैं वहाँ अपने आत्यंतिक अकेलेपन, उदासी और अपने दुहराव में क्षयोन्मुख दीखने लगते हैं और जहाँ ये काव्यात्मक दृष्टि से सपाट हो जाते हैं वहाँ वे अपनी सार्थकता किसी भी प्रकार प्रमाणित नहीं कर पाते। आलोचकों ने इस धारा के रोमांस को क्षयी रोमांस कहा है। उनकी दृष्टि में यह रोमांस स्वस्थ मन की प्रतिक्रिया नहीं, बल्कि रुग्ण, असामाजिक मन का उच्छ्वास है। इस धारा की समग्र कविताओं के बारे में यह नहीं कहा जा सकता। वास्तव में स्वच्छन्द भावुक मन के उद्गार अपने खुलेपन, सहजता और तीव्रता में जहाँ बहुत आकर्षक और नये लगते हैं वहाँ परिवेश तथा जीवन के अन्य प्रश्नों से असम्बद्ध हो जाने के कारण और बार-बार अतृप्ति तथा असफलता से गुज़रने के नाते क्षयोन्मुख हो जाते हैं, टूटे स्वरों से भर जाते हैं, मदिरा की मादकता को ओढ़ना चाहते हैं। प्रस्तुत धारा की कविताओं में सुन्दर और अस्वस्थ दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं।

वास्तव में कविता के संदर्भ में आशा, निराशा, आस्था, अनास्था का प्रश्न बहुत मौलिक प्रश्न नहीं है, मौलिक है अनुभवों की प्रामाणिकता और सार्थकता। अनुभव प्रामाणिक होकर भी निरर्थक हो सकता है। वह दूसरों को अपने से जोड़ने में असमर्थ हो जाता है। इस धारा की कविताएँ अनुभव की दृष्टि से प्रामाणिक होकर भी जहाँ निरर्थक हैं वहाँ प्रभावहीन हैं। जहाँ सार्थक हैं वहाँ औरों को अपने से जोड़ने के कारण प्रभावशाली है। ये अनुभव प्रामाणिक तो हैं किन्तु जीवन-यथार्थ के संश्लिष्ट अनुभव न होकर एक भावुक स्वच्छन्द व्यक्ति के रूमानी अनुभव हैं इसलिए वे जीवन-अनुभव के बहुत गहन और जटिल स्तरों को न उभार कर विरह-मिलन, आशा-निराशा (विशेषतया निराशा) के सहज प्रसूत आवेगों को गा चलते हैं। ये सहज प्रसूत आवेग जिस सहजता से यौवन के सपनों की रचना कर लेते हैं, सौन्दर्य की प्यास अनुभव कर लेते हैं, उसी सहजता से सपनों के टूटने और प्यास के अतृप्त रह जाने से उत्पन्न अकेलेपन, पराजय, उदासी की भी। एक ओर तो कवि की अदम्य प्यास और स्वप्न कि वह अनियंत्रित भाव से प्रिया को प्यार करे और उसे पाकर सारे संसार को पा ले—

गगन का गान बन कर मैं तुम्हें क्षण में पुकारूँगा
नयन से फूल जो झरते बना देंगे मधुर जीवन (छायालोक)

दूसरी ओर उसका हारा हुआ अकेलापन है जो बार-बार आहत स्वर में रो उठता है, जीवन की निरर्थकता, असफलता और भाग्यहीनता का क्रन्दन करता है। अकेलेपन का यह स्वर केवल प्रेम के ही सन्दर्भ में सीमित नहीं रहता, अखिल जीवन में व्याप्त हो जाता है—

कितना अकेला आज मैं
संघर्ष में टूटा हुआ
दुर्भाग्य से लूटा हुआ
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं (एकांत संगीत)

× × ×

देखता हूँ दूर बैठा
नीम की मंजरित डाली
वायु जिससे खेलती, पिक ने
जिसे अपनी बना ली
तू अकेला है अकेला कहा, मुझसे हर सुबह हर शाम ने

इस अकेलेपन का कारण यही है कि कवि ने अपनी स्वच्छन्द प्रकृति के कारण रूढ़िबद्ध संस्थाओं और मूल्य-मान्यताओं से नाता तोड़ लिया है और किसी नयी संस्था या समाज का दर्शन न कर या उससे न मिल कर अकेले ही सब कुछ तोड़ने-फोड़ने और स्वप्न साकार करने का प्रयत्न किया है और असफल होने पर अपने ही एकाकीपन से ग्रस्त होकर विलाप किया है—

अकेला मानव आज खड़ा है
दूर हटा स्वर्गों की माया
स्वर्गाधिप के कर की छाया
सूने नभ, कठोर पृथ्वी का ले आधार अड़ा है
धर्मों, संस्थाओं के बन्धन
तोड़ बना है वह विमुक्त-मन
संवेदना स्नेह संबल भी खोना उसे पड़ा है (एकांत संगीत)

और फिर वह चारों ओर अवसाद देखता है। जो अवसाद है वह खुला हुआ लौकिक अवसाद है। कवि के साथ ईश्वर नहीं है, देवता नहीं है, रूढ़

जब करूँ मैं प्यार
हो न मुझ पर कुछ नियंत्रण
कुछ न सीमा, कुछ न बन्धन
तब रुकूँ जब प्राण प्राणों से करें अभिसार (एकांत संगीत)

तुम दुबली-पतली दीपक की लौ-सी सुन्दर
मैं अन्धकार
मैं दुर्निवार
मैं तुम्हें समेटे हूँ सौ-सौ बाँहों में, मेरी ज्योति प्रखर
आपुलक गात मैं मलयवात
मैं चिर मिलनातुर जन्मजात
तुम लज्जाधीर शरीर-प्राण
थर-थर कंपित ज्यों स्वर्णपात
कँपती छायावत रात काँपते तम प्रकाश आलिंगन भर
(पलाशवन)

रस प्रेरित लोलित रति गति में जब झूम झमकता विसुधगात
गोरी बाँहों में बस प्रिय को कर दूँ चुम्बन से सुरा स्नात
(अपराजिता)

मैं इच्छा के मरु-पथ का यात्री चंचल
प्रज्वलित पिपासा से मेरा अन्तस्तल
मैं अर्थ बताता द्रोह भरे यौवन का
मैं नग्न वासना की गीता उच्छृंखल (मधूलिका)

यह दुनिया है, हम दोनों हैं और वासना ज्वार प्रिये
रोके कौन जगी अन्तर में, जब इच्छा दुर्वार प्रिये (कलापी)
होने दे परिरंभण चुम्बन, चलने दे व्यापार रभसमय
छोड़ प्रिये यह अचिर दुराग्रह, यह नीरसता लज्जा अभिनय
रोम-रोम में नाच रहा अति प्रथम प्रवाह प्रेम का अक्षय
नस-नस में बहता उद्वेलित यौवन विद्युद्वेग निरामय
(संचयिता)

शिथिल होंगे न ये बन्धन
तुम्हें मन में पुकारूँगा, तुम्हें वन में पुकारूँगा

गगन का गान बन कर मैं तुम्हें क्षण में पुकारूँगा
नयन से फूल जो झरते बना देंगे मधुर जीवन (छायालोक)

दूसरी ओर उसका हारा हुआ अकेलापन है जो बार-बार आहत स्वर में रो उठता है, जीवन की निरर्थकता, असफलता और भाग्यहीनता का क्रन्दन करता है। अकेलेपन का यह स्वर केवल प्रेम के ही सन्दर्भ में सीमित नहीं रहता, अखिल जीवन में व्याप्त हो जाता है—

कितना अकेला आज मैं
संघर्ष में टूटा हुआ
दुर्भाग्य से लूटा हुआ
परिवार से छूटा हुआ, कितना अकेला आज मैं (एकांत संगीत)

× × ×

देखता हूँ दूर बैठा
नीम की मंजरित डाली
वायु जिससे खेलती, पिक ने
जिसे अपनी बना ली
तू अकेला है अकेला कहा, मुझसे हर सुबह हर शाम ने

इस अकेलेपन का कारण यही है कि कवि ने अपनी स्वच्छन्द प्रकृति के कारण रूढ़िबद्ध संस्थाओं और मूल्य-मान्यताओं से नाता तोड़ लिया है और किसी नयी संस्था या समाज का दर्शन न कर या उससे न मिल कर अकेले ही सब कुछ तोड़ने-फोड़ने और स्वप्न साकार करने का प्रयत्न किया है और असफल होने पर अपने ही एकाकीपन से ग्रस्त होकर विलाप किया है—

अकेला मानव आज खड़ा है
दूर हटा स्वर्गों की माया
स्वर्गाधिप के कर की छाया
सूने नभ, कठोर पृथ्वी का ले आधार अड़ा है
धर्मों, संस्थाओं के बन्धन
तोड़ बना है वह विमुक्त-मन
संवेदना स्नेह संबल भी खोना उसे पड़ा है (एकांत संगीत)

और फिर वह चारों ओर अवसाद देखता है। जो अवसाद है वह खुला हुआ लौकिक अवसाद है। कवि के साथ ईश्वर नहीं है, देवता नहीं है, रूढ़

समाज नहीं है, संस्था नहीं है, इसलिए वह किसी प्रकार के आश्रय, सहारा का आभास नहीं पाता, उसे यदि कोई सहारा नजर आता है तो केवल प्रेयसी से मिलन का किन्तु वह भी कहां हो पाता है ? इसलिए कवि अपनी नगी पीड़ा, असफलता, निराशा को प्रत्यक्ष, बेलौस झेलता हुआ जीवन को असफल और निराधार अनुभव करता है। उसे मृत्यु का बोध होता है—

मुझे लग रहा है यह मेरा जीवन विफल महान
फटा-फटा सा मुझे लग रहा निज अस्तित्व-वितान
सभी ओर से जुट आई हैं असफलताएँ आज
कहाँ गया वह सृजन-परिश्रम ? कहां नवल निर्माण ?
(हम विषपायी जनम के)

हृदय में संताप मेरे, देह में है ताप
कौन है जो बात पूछे ?
कौन है जो अश्रु पोंछे।....
अश्रु मेरे सूख जाते किन्तु अपने आप।
बात, पीले पात-सा जो
ले उड़ी थी दे भुलावा
छोड़ कर चल दी मिला जब
उसे फूलों से बुलावा
कर लिया हलका हृदय रो चीख कर चुपचाप (पलाशवन)

इस प्रकार की व्यक्तिवादी अनुभव-यात्रा के दो परिणाम दिखाई पड़ते हैं—एक तो यह विश्वास कि जीवन क्षणभंगुर है। इस जीवन में विशेषतया अवसाद की प्रधानता है, इस अवसाद के विस्तार में यदि उल्लास के कुछ क्षण मिल जाते हैं तो उन्हें मस्ती से भोगो, आगे-पीछे मत देखो। मस्ती के क्षणों में भी दार्शनिक की सी निस्संगता या छद्म गंभीरता नहीं ओढ़नी है—

जीवन में दोनों आते हैं
मिट्टी के पल सोने के पल
जीवन से दोनों जाते हैं
पाने के पल, खोने के क्षण
हम जिस क्षण में जो करते हैं
हम बाध्य वही हैं करने को

हँसने के क्षण पाकर हँसते
रोते हैं पा रोने के क्षण
विस्मृति की आई है बेला
कर पांथ, न इसकी अवहेला
आ भूलें, हास रुदन दोनों
मधुमय होकर दो चार पहर
है आज भरा जीवन मुझमें
है आज भरी मेरी गागर। (मधुकलश)

दूसरा परिणाम यह कि कवि अपने ग़म को ग़लत करने के लिए मधु का सहारा लेता है और सारे सहारे तो छूट चुके हैं। इतना ही नहीं वह अपनी मादकता, प्रेम या उल्लास की उत्तेजना को तीव्र करने के लिए भी मधु का पान करना चाहता है। यह मधु धीरे-धीरे इतना आत्मीय हो जाता है कि वह अन्य जीवनसत्यों का प्रतीक बन जाता है जैसा कि 'मधुशाला' 'मधुबाला' आदि में हुआ है। बच्चन की कविताओं में इसकी प्रधानता तथा अन्य कवियों की कविताओं में भी इसका पर्याप्त अस्तित्व देखकर लोगों ने इन कविताओं को हालावादी कविताएँ कहना आरम्भ कर दिया।

इस धारा की प्रमुख कृतियों में कहीं-कहीं विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है। इन कृतियों के कवियों ने इनके अतिरिक्त ऐसी कृतियाँ भी दी हैं जिनमें प्रमुख रूप से सामाजिक स्वर मुखर हुआ है—प्रगतिवादी कविता का सा विद्रोह ध्वनित हुआ है, जैसे बच्चन के 'बंगाल का काल', नरेन्द्र शर्मा के 'अग्नि शस्य' अंचल की 'किरण बेला', शंभुनाथ सिंह के 'मन्वंतर आदि में। इन कवियों में लक्षित होने वाला विद्रोह का स्वर व्यक्तिगत अस्वीकृति तथा सामाजिक असंतोष दोनों रूपों में है। व्यक्तिगत अस्वीकृति में वह अपने को घेरने वाले सामाजिक, धार्मिक और संस्थागत बन्धनों को ललकारता है—

प्रार्थना मत कर मत कर मत कर
युद्धक्षेत्र में दिखला भुजबल
रह कर अविजित अविचल प्रतिपल
मनुज पराजय के स्मारक हैं मठ, मस्जिद, गिरजाघर
(एकांत संगीत)

तथा सामाजिक असंतोष वाली कविताओं में वह समाज की विषमता को—शोषकों और शोषितों के भयानक अंतर को—देखता है और अपने भीतर

समाज के असंतोष का अनुभव करता है। कभी तो अभावग्रस्त, दैन्य जड़ित शोषित समाज का सहानुभूतिपरक चित्र खींचता है ; कभी शोषकों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर ऊंचा करता है। लेकिन इस धारा का समस्त विद्रोह-स्वर मूलतः रूमानी है, उसमें व्यक्तिगत भावावेश अधिक है, सामाजिक दर्शन और रचनात्मक चिन्तन कम। इसलिए यह विद्रोह-स्वर भी वस्तुतः उनके अन्य स्वरों से भिन्न नहीं है। विषय थोड़ा भिन्न अवश्य है किन्तु दृष्टि और स्वर में भिन्नता नहीं। यही कारण है कि इस धारा के प्रायः सभी कवि कुछ देर के लिए इस विषय की ओर भटक कर पुनः अपने मूलविषय की ओर लौट गए या बहुत हुआ तो एक आरोपित अध्यात्म की ओर मुड़ गये।

वैयक्तिक गीतकविता की अभिव्यक्तिमूलक सादगी उसकी एक बहुत बड़ी देन है। कवि सीधे-सादे शब्दों, परिचित चित्रों और सहज कथनभंगिमा के द्वारा अपनी बात बड़ी सफाई से कह देता है। इसलिए कवि की शक्तियां और अशक्तियां दोनों बड़ी स्पष्टता से उभरती हैं। शक्तियाँ अस्पष्ट बिम्बों में उलझ कर अपनी तीव्रता और प्रभाव नहीं खोतीं और अशक्तियाँ रहस्यात्मकता का लाभ उठाकर महान् होने का आभास नहीं दे पातीं। यद्यपि इन कवियों की संवेदना व्यक्तिवादी है किन्तु वे अपने को जिस माध्यम, परिवेश, प्रकृतिचित्र, बिम्ब, उपमा, भाषा आदि के द्वारा व्यक्त करना चाहते हैं वह हमारा अति परिचित होता है, लोक के निकट का होता है, अतएव मांसल और मूर्त प्रतीत होता है। वह वायवी और गढ़ा हुआ नहीं, रक्तिम तथा देखा-सुना, भोगा हुआ लगता है। यद्यपि इस धारा की कविता की भी भाषा मूलतः संस्कृत पदावलीनिष्ठ है किन्तु वे शब्द या पद हमारे निकट के लगते हैं। दूसरे यह कि बोलचाल के शब्द और मुहावरे भी इनमें पर्याप्त मात्रा में आये हैं। कुल मिलाकर यह जीवंत भाषा प्रतीत होती है। दो-एक दृष्टान्त देखें—

फिर फिर रात और दिन आते
फिर फिर होता साँझ सवेरा
मैंने भी चाहा फिर आए
बिछुड़ा जीवन-साथी मेरा

× × ×

कच्चे धागे-सा सुख सपना
टूट गया सो टूट गया (पलाशवन)

शान्त है पर्वत समीरण मौन है वह चीड़ का वन भी
बालकों की बात-सी आई गई सी हो गई है बात
नखत ज्यों आंसू पुछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो-रो रात
रुकेंगे निश्वास मेरे, शान्त होगा चिर विकल मन भी (पलाशबन)

हरिवंशराय 'बच्चन'

बच्चन इस धारा के सर्वोत्तम कवि हैं। इस धारा की समस्त संभावनाएँ और सीमाएँ बच्चन में पुंजीभूत हैं। बच्चन मूलतः आत्मानुभूति के कवि हैं इसलिए उनकी जिन कृतियों में आत्मानुभूति की सघनता है वे कृतियाँ अपने प्रभाव में तीव्र और मर्मस्पर्शी हैं। जिन कृतियों में आत्मानुभूति के साथ अवधारणाओं का संयोग होता चला है उनमें प्रभाव की अन्विति टूट टूट गई है। लगता है कवि अपनी बात कहने के बाद उसे 'जनरलाइज्ड' करने लगता हैं। जहाँ अवधारणाएँ अनुभूति के प्रवाह में बहती हुई आती हैं वहाँ प्रभाव में योग देती हैं, जहाँ अनुभूति से टूट जाती हैं या अनुपात में असंतुलित हो जाती हैं वहाँ कविता को प्रभावहीन बनाने लगती हैं। 'निशा निमंत्रण', 'एकांत संगीत' और 'मिलन यामिनी' के गीत इस दृष्टिकोण से जहाँ गीतकाव्य की उपलब्धियाँ हैं वहाँ अवधारणाएं अनुभूतियों के रंग में भीग गई हैं। जैसे 'आज मुझसे दूर दुनिया' वाले गीत के अनुभूति-प्रवाह में 'प्रेमियों के प्रति रही है हाय कितनी क्रूर दुनिया' जैसी अवधारणा भींग कर ही उभरती है। कवि ने स्वानुभूतिजन्य सुख-दुःख और सौन्दर्य-प्रेम के उन्मुक्त सहज गीत गाये हैं, किन्तु उसका स्वर यहीं तक सीमित नहीं है। वह सुख-दुख, प्रेम-सौन्दर्य, हार-जीत के भीतर से गुजरता हुआ सामाजिक विसगतियों का चित्रण करता है तथा उनके प्रति विद्रोह भी करता है। ऐसा करने में अवधारणा, सूक्ति, प्रवचन आदि के उठ आने की आशंका होती है। बच्चन-काव्य में ऐसा हुआ भी है।

लगता है विद्रोह या सामाजिक सत्य-चित्रण बच्चन के स्वभाव में नहीं अँटते। इसके लिए जिस सामाजिक जीवनभोग और बौद्धिक यथार्थवादी दृष्टि की आवश्यकता होती है वह बच्चन या इस धारा के किसी कवि में नहीं है। इसलिए विद्रोह आक्रोश बनकर रह जाता है और सामाजिक यथार्थ व्यक्तिगत अनुभव के साथ आरोपित अवधारणा बनकर। बच्चन के गीत जहाँ अपनी सहज भाषा और अनुभूति की निश्छलता के कारण गीतकाव्य को नयी

गरिमा प्रदान करते हैं वहीं कहीं-कहीं उत्तेजना, भाषा के सपाटपन, शब्दों, बिम्बों के अपव्यय तथा स्फीति के कारण बहुत प्रभावहीन सिद्ध होते हैं। जैसे 'जो बीत गयी सो बात गयी' गीत का आरम्भ एक अवधारणा से होता है और इस अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए कवि ने अनावश्यक रूप से तीन चित्र लिए हैं। कहा जा सकता है कि बच्चन के काव्यसौन्दर्य का धरातल बहुत विषम है—कहीं काफी ऊँचा, कहीं नीचा या सपाट।

अपनी धारा के अन्य कवियों से बच्चन इस बात में अलग हैं कि जहां और लोगों ने बाद में अपने को दुहराया है वहाँ बच्चन ने निर्मम भाव से अपनी जानी पहचानी दुनिया छोड़कर यथार्थ की नयी दुनिया में प्रवेश किया है और उसके अनुकूल भाषा की तलाश की है। बच्चन की परवर्ती कविता की दो धाराएं हैं। (१) लोक-धुनों पर आधारित गीत जिनकी भाव भूमि भी लोक की है (२) मुक्त छन्द में लिखी गयी छोटी बड़ी कविताएं, जिनमें देश-विदेश, मन के भीतर, मन के बाहर के आधुकि यथार्थ की अभिव्यक्ति हैं। कहा जा सकता है कि बच्चन जैसे प्रतिष्ठित कवि का अपनी जानी पहचानी जमीन छोड़कर नयी जमीन तोड़ना अपने आप में एक महत्वपूर्ण उपलब्धि है। किन्तु प्रश्न हो सकता है कि क्या नयी जमीन तोड़ना अपने आप में उपलब्धि है? पहली बात तो यह कि बच्चन के लिए व्यक्तिगत रूप से यह नयी जमीन हो सकती है किन्तु इस युग के कवि जो जमीन तोड़ रहे हैं वह बच्चन की जमीन से काफी आगे की जमीन है और यह भी कि, जमीन तोड़ देने मात्र से कोई कवि काव्यात्मक उपलब्धि प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए बच्चन की ये नयी कविताएं उनके पहले के गीतों से काव्यात्मक उपलब्धि की दृष्टि से काफी पीछे हैं। इसकी वजह यह है कि बच्चन की ये कविताएं यथार्थ का अनुभूत्यात्मक चित्र न होकर यथार्थ का—वस्तु स्थिति का, विचार का, अवधारणा का—कथन मात्र बन कर रह जाती हैं। उनके मुक्त छन्द में अनुभूति के द्वन्द्व, संक्रान्ति, विविध रूपता के अनुसार विविध बारीक मोड़ नहीं आते, कोण नहीं उभरते बल्कि ऐसा लगता है जैसे एक सांस में सारी बात कही जा रही है। किन्तु उनकी कुछ कविताएं निश्चय ही अपने अछूते, परिचित लोक-बिम्बों के कारण बहुत सुन्दर बन पड़ी हैं नेहरू जी की मृत्यु पर लिखी गयी कविता ऐसी ही मार्मिक अनुभूति प्रवण और बिम्बात्मक कविताओं में से एक है। और यदि कवि अपने को दुहराना छोड़कर, अपनी जानी पहचानी दुनिया के मोह से छूट कर आधुनिक यथार्थ का साक्षात्कार करता हुआ कुछ सुन्दर

कविताएं देने में सफल हो सका है तो उसकी यह उपलब्धि कम नहीं है बल्कि दुहरी उपलब्धि है। बच्चन अपनी पीढ़ी के एक मात्र कवि हैं जिनकी दृष्टि नयी पीढ़ियों की यात्रा की ओर बराबर लगी हुई है और जो उन्हें आशीर्वाद देने के स्थान पर उनका सहयात्री बनना अधिक पसन्द करते हैं।

नरेन्द्र शर्मा

नरेन्द्र शर्मा के गीतों का अपना वैशिष्ट्य है। उनमें बड़ी चित्रात्मकता और आत्मीयता है उनके गीतों का सुख-दुख सीधे-सीधे प्रेमपात्र को निवेदित है; बीच में न कोई अवधारणा आती है और न छल। इन गीतों का एक परिवेश होता है और वह परिवेश कवि का ही नहीं हमारा भी निकट का परिचित होता है। वह कवि के अनुभवों को जीवंतता प्रदान करता है। कुल मिलाकर नरेन्द्र शर्मा के गीत अधिक अपने मालूम पड़ते हैं। प्रकृति का बहुत चटक और सुपरिचित परिवेश इन्हें घेरे रहता है। शर्मा जी का अपना आत्मीय क्षेत्र है—प्रकृति-सौन्दर्य, मानव-सौन्दर्य और उससे उत्पन्न विरह-मिलन की अनुभूतियाँ। इस क्षेत्र में सर्वत्र मिट्टी की गंध व्याप्त दीखती है। नरेन्द्र शर्मा में भी सामाजिक यथार्थ का चित्रण तथा विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोही स्वर है। यद्यपि यहाँ भी कवि की रूमानी दृष्टि ही प्रधान है तो भी उसका स्वर बच्चन की अपेक्षा अधिक वस्तुवादी और अनुभूतिप्रवण है तथा उसमें समाजवादी चिंतन का पुट भी है। यदि नरेन्द्र शर्मा के समग्र काव्य का मूल्यांकन किया जाय तो ज्ञात होगा कि भाषा और भाव की रंगमयता के कारण ये छायावाद के बहुत निकट हैं। अलगाव केवल प्रत्यक्षता के कारण है अर्थात् इनकी भाषा और भाव में छायावाद की अपेक्षा अधिक खुलापन और प्रत्यक्षता है। ये अपनी पूरी आत्मीयता के बावजूद अनुभव के नये-नये आयाम खोलते लक्षित नहीं होते, सौन्दर्य-प्रेम के जाने-पहचाने भाव मूर्तरूप में आते रहते है—कभी कुछ सूक्ष्म नूतन छायाओं के साथ, कभी-कभी बहुत सपाट स्फीति और आवृति के साथ। कुछ ताजे अनुभवों की बिम्बात्मक अभिव्यक्ति इनके काव्य को बहुत उच्च धरातल प्रदान कर देती है। किन्तु पूरी कविता में यह धरातल नहीं रहता, दो-चार अच्छी पंक्तियों के पश्चात् कविता सपाट सतह पर उतर कर सरकने लगती है। सामान्य गीतों की तो बात ही क्या, 'क्या तुम्हें भी कभी आता है हमारा ध्यान' जैसे सुन्दर गीत की आरंभिक तीन पंक्तियाँ जिस सुन्दर-सूक्ष्म बिम्ब का निर्माण करती हैं, बाद की पंक्तियाँ

उसका निर्वाह नहीं कर पातीं। फिर भी कुल मिलाकर नरेन्द्र शर्मा के गीतों में ऐसी ग्रात्मीयता है कि उन्हें प्यार करने को जी होता है।

रामेश्वर शुक्ल 'अंचल'

अंचल ने भी ग्रपने तीव्र रूमानी संवेदन को लेकर ग्रपने ग्रंतर की यात्रा तो की ही है, समाज में भी घूमे हैं। इसलिए इनके भी सामाजिक यथार्थवाले काव्यों में रूमानी संवेदना की ही प्रधानता लक्षित होती है। ग्रंचल उद्दाम वासना के कवि हैं। रूप की उद्दाम ग्रासक्ति, उद्दाम वासना, उद्दाम पीड़ा ग्रौर उद्दाम जिजीविषा इनके काव्य की प्रकृति निर्मित करती हैं। यही उद्दामता इनकी प्रगतिशील कही जाने वाली कविताग्रों में भी दिखाई पड़ती है। वासना की उद्दामता कविता को एक ग्रोर सामाजिक संयम से काटकर उसे ग्रस्वस्थ रूप देती है, दूसरी ग्रोर रचनात्मक स्तर पर उसे ग्रनुभूति की गहराई ग्रौर संश्लिष्टता न प्रदान कर उत्तेजना देती है ग्रौर उत्तेजना उच्च ग्रौर स्थायी काव्य का ग्राधार नहीं बन सकती। उत्तेजना या स्नायविक तनाव ग्रंचल में इस प्रकार हावी है कि वे ग्रब तक ग्रपनी कविताग्रों में किशोरावस्था की शृंगारिक प्रतिक्रियाएँ व्यक्त किये जा रहे हैं। इस धारा के प्रायः सभी कवि व्यक्तिवादी ग्रावेश के साथ सामाजिक यथार्थ की ग्रोर उन्मुख होकर पुनः व्यक्तिवादी भावक्षेत्र में लौट गये किन्तु जहाँ नरेन्द्र शर्मा, बच्चन ग्रादि ग्रध्यात्म को ग्रोर उन्मुख हुए, वहाँ ग्रंचल ग्रपनी यात्रा के ग्रारंभिक विन्दु की ग्रोर।

४

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

४. राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता

राष्ट्रीय शब्द अपने आधुनिक अर्थ में आधुनिक है जिसमें जाति संप्रदाय, धर्म, सीमित भू-भाग आदि की संकीर्णता के स्थान पर क्रमशः एक समग्र देश और उसके भीतर निवास करने वाली समस्त जातियों, भिन्न-भिन्न भू-खंडों, सम्प्रदायों और रीति-रिवाज़ों के लोगों का संश्लिष्ट, सामूहिक रूप उभरता गया है। कहना न होगा कि अंग्रेजों के आने के समय तक अपनी सांस्कृतिक एकता के बावजूद भारत व्यावहारिक रूप से भिन्न-भिन्न राज्यों में बंटा हुआ था। एक राजा दूसरे पर चढ़ाई किया करता था। इतना ही नहीं बल्कि ये राजे एक दूसरे को नीचा दिखाने के लिए विदेशी आक्रमणकारियों का भी साथ दिया करते थे। इनके पारस्परिक झगड़ों के मूल में कोई बृहत्तर सामाजिक या मानवीय आदर्श नहीं था, बल्कि राज्य-विस्तार की भावना, अहंकार की तृप्ति या किसी की सुन्दर बहू बेटी का अपहरण करने की लालसा थी। ये अपने पड़ोसी या सगोत्री राजा को पराजित करने के लिए लुटेरे विदेशियों का स्वागत करते हुए उनसे मिल जाया करते थे। हिन्दी साहित्य का इतिहास देखें तो प्रतीत होगा कि आदिकाल, भक्तिकाल और रीतिकाल में देश की स्थिति यही थी। राजाओं के आश्रित कवि अपने-अपने आश्रय-दाताओं के वास्तविक या कल्पित शौर्य को उदात्त रूप देने का प्रयास करते थे, किन्तु इस वास्तविकता की ओर न उनकी दृष्टि थी, न उनके आश्रयदाताओं की। यह सारा असली-नकली शौर्य राष्ट्रीय संदर्भ से जुड़ नहीं पा रहा था। राष्ट्रीय तो दूर, आसपास के सामूहिक हित से भी नहीं जुड़ पा रहा था। यदि कहीं दो राजाओं में एकता दिखायी भी पड़ी तो उस का आधार या तो सम्मिलित भय रहा, या समधार्मिकता, या समसांप्रदायिकता। हां, कभी-कभी विदेशी शासकों के विरुद्ध कोई भारतीय राजा बहुत बहादुरी से जूझता दिखाई पड़ा तो लगा कि उस में बहुत राष्ट्रीय भावना काम कर रही है। किन्तु वास्तव में यह राष्ट्रीय भावना नहीं रही, जातीय गौरव की रक्षा का स्फूर्जित अभिमान रहा।

वास्तव में पूरे भारतवर्ष की एकता के अर्थ में राष्ट्रीयता का विकास आधुनिक काल में हुआ। अंग्रेजों ने समूचे देश में एक शासन स्थापित किया,

जिससे पूरे देश के लोग एक राजा की प्रजा हुए और पूरे देश को समान यातना का अनुभव हुआ। अपने-अपने में बँटे हुए लोगों को यह प्रतीत हुआ कि वे सब मिल कर एक हैं, वे चाहे किसी जाति या धर्म के हों, अंग्रेजों के गुलाम हैं। और फिर जब अंग्रेज़ी शासन के विरुद्ध मुक्ति का अभियान आरंभ हुआ तो मुक्ति की चेतना किसी एक धर्म या प्रदेश में सीमित न रह कर पूरे देश में व्याप्त हुई। इस प्रकार आधुनिक काल में जो राष्ट्रीयता का स्वरूप उभरा और विकसित हुआ, उसके तीन आधार हैं— पूरे देश में अंग्रेज़ी शासन की स्थापना, समग्र भारतीय प्रजा द्वारा अंग्रेज़ी शासन की अव्यवस्था, अत्याचार आदि से उत्पन्न यातना का समान अनुभव तथा स्वाधीनता आन्दोलन और उस का देश व्यापी प्रसार।

राष्ट्रीयता का विकास सबसे पहले पश्चिम में हुआ, विशेषतया इंग्लैंड में। किन्तु वहां पराधीनता की समस्या नहीं थी, इसलिए वहां राष्ट्रीयता के जो तत्व उभरे, वे भारत में उभरने वाले तत्वों से थोड़े भिन्न थे। अंग्रेज़ अपने साथ अपनी राष्ट्रीय भावना लाये थे, साथ ही साथ भारतीय राष्ट्रीयता के विकास के लिए परिस्थितियां भी। भारतीय राष्ट्रीयता में स्व-रक्षा का भाव प्रधान था, जब कि स्वतन्त्र पश्चिमी देशों में स्व-विकास का। भारत एक विशाल देश है, जहां अनेक संस्कृतियों, भाषाओं रीति-रिवाज़ों के लोग रहते हैं, ऊपर-ऊपर जो एक दूसरे से अलग-अलग दीखते हैं, परन्तु सब का मूल स्रोत एक ही है, जो आंतरिक रूप से सब को बांधता है। वह मूल स्रोत है अपनी प्राचीन संस्कृति, प्राचीन आध्यात्मिक सत्य। कहा जा सकता है कि हमारे यहां उभरने वाली राष्ट्रीयता में तीन मुख्य बातें लक्षित होती हैं। (१) भारतीय पराधीनता की यातना का अहसास और उससे मुक्ति पाने का प्रयास (२) पश्चिमी सभ्यता और अलगाव की भावना से आक्रांत होती हुई भारतीय चेतना के उद्धार के लिए तथा उसमें एकता और स्वाभिमान का बल फूँकने के लिए अपनी प्राचीन संस्कृति के समुज्वल रूप का प्रस्तुतीकरण (३) उपयोगी आधुनिक मूल्यों के आलोक में राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था का पुनर्विचार तथा पुनर्गठन। कहना न होगा कि स्वाधीनता-प्राप्ति तक प्रथम दो तत्व बहुत प्रबल रहे, किन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् तीसरे तत्व की ही सार्थकता शेष रह गयी। किन्तु उससे बड़ी बात जो आयी, वह थी देश की राजनीतिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा और विकास करने का प्रयास तथा नवीन राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों के कारण

उत्पन्न समस्याओं से जूझने और उनका समाधान खोजने की चेष्टा। यह नहीं है कि अब हम अपने अतीत गौरव अर्थात् प्राचीन संस्कृति-सभ्यता के औदात्य की बात नहीं करते, किन्तु अब गौरव-स्मरण के स्थान पर गौरव परीक्षण प्रमुख होता जा रहा है। वर्तमान समस्याओं और प्रश्नों के संदर्भ में जब हम अपने अतीत गौरव को देखते हैं, तब उससे अभिभूत होने के स्थान पर उस का पुनर्मूल्यांकन करते हैं और विचार के स्तर पर हम उससे अपने को जोड़ते या काटते हैं, उसके भीतर निहित द्वन्द्वों, विसंगतियों और मानवीय संवेदनाओं की तलाश करते हैं। यों ऐसे लोगों की कमी आज भी नहीं हैं, जो घ्राण प्राण से रहित हो कर अतीत गौरव से अभिभूत हो उठते है, बात-बात में उसकी दुहाई देते है और आचरण में घोर वर्तमान स्वार्थ को ढोते रहते हैं।

ऊपर की चर्चा से जो बातें उभर कर सामने आती हैं, वे ये है—

राष्ट्रीयता अपने आधुनिक अर्थ में आधुनिक काल की देन है। राष्ट्रीयता की भावना में राजनीतिक चेतना के साथ अपने देश की सांस्कृतिक चेतना की उद्बुद्धता के नाते राष्ट्रीयता वर्तमान की समस्याओं के साथ-साथ अतीत गौरव के भाव से जुड़ जाती है, पराधीन राष्ट्र अतीत-गौरव या अपनी उदात्त सांस्कृतिक परंपरा से अभिभूत होता है, स्वाधीन राष्ट्र उसका पुनर्परीक्षण करता है। पुनर्परीक्षण की प्रक्रिया में वर्तमान के मूल्य और दृष्टिकोण क्रियाशील हो उठते है; अतः प्राचीन काल के बहुत से उदात्त दिखाई पड़ने वाले तत्व अर्थहीन और उपेक्षित तत्व सार्थक हो उठते हैं। राष्ट्रीयता मात्र विचार नहीं है, वह संवेदना और आचरण भी है। जो व्यक्ति अपने देश की मिट्टी, प्रजा के सुख-दुख आदि से संवेदना और आचरण के स्तर पर जुड़ा नहीं होता, वह केवल देश की समस्याओं पर विचार कर सकने के कारण ही राष्ट्रीय नहीं कहा जा सकता। किन्तु विचार को राष्ट्रीयता का अपरिहार्य तत्व स्वीकार करना ही पड़ेगा। विचारशक्ति, बुद्धि और विवेक से ही व्यक्ति देश के संश्लिष्ट रूप को समझ सकता है, उसकी वर्तमान समस्याओं और सांस्कृतिक परंपराओं की व्याख्या कर सकता है, समस्याओं से निकलने का मार्ग ढूँढ़ सकता है। जहां तक आधुनिक हिन्दी कविता में राष्ट्रीयता की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, कहा जाता है कि वह भारतेन्दु कालीन कविताओं से प्रारंभ होती है। किन्तु राष्ट्रीयता का स्वरूप तब से ले कर आज तक विकसित होता रहा है। आरम्भ में मोटे-मोटे दुख-दर्दों, सहज भावात्मक

प्रतिक्रिया तथा अतीत-स्मरण के रूप में लक्षित होने वाली राष्ट्रीयता धीरे-धीरे जटिल और संश्लिष्ट होती गयी तथा अनेक मानवीय और सार्वभौम प्रश्नों तथा संवेदनों से सम्पन्न होती चली गयी। नयी-नयी राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों ने उसे जटिल रूप प्रदान किया। द्विवेदी काल तक भारतीय राष्ट्रीयता बहुत कुछ हिन्दू राष्ट्रवाद के रूप में दिखायी पड़ती है। इसका कारण सायास हिन्दू राष्ट्रवाद का प्रसार नहीं था, वरन् उस भारतीय दृष्टि का अभाव था, जो गांधी जी के व्यक्तित्व में उभर कर आयी। वैसे देखा जाए तो भारतीय गौरव का इतिहास हिन्दू गौरव या आर्य गौरव का इतिहास है, इसलिए अतीत का स्मरण करते ही स्वतः वह इतिहास सामने आ जाता है, वह अपने समस्त प्रतीकों और घटनाओं के साथ साकार हो उठता है। इसलिए भारतेन्दु काल और द्विवेदी काल के कवियों के मन में जो अतीत उभरता था, वह इसी प्रकार का था। किन्तु उन्होंने कहीं भी हिन्दू राष्ट्र स्थापित करने की बात नहीं कही है। यह अवश्य है कि उनमें वर्तमान भारत के जाति, संस्कृत और धर्म-संकुल स्वरूप को पहचानने की वह दृष्टि नहीं दिखाई पड़ती, जो बाद में विकसित हुई। यद्यपि बाद में भी ऐसे कवियों का अभाव नहीं, जो यह दृष्टि नहीं पा सके और जानबूझ कर हिन्दू राष्ट्रवाद पर जोर देते रहे।

प्रस्तुत कालावधि में आने वाली कृतियों पर विचार करें तो ज्ञात होगा कि राष्ट्रीयता के सारे रूप कहीं खंडित रूप में, कहीं संश्लिष्ट रूप में इनमें दिखाई पड़ते हैं। राष्ट्रीयता का जो सब से स्थूल रूप है, वह है विदेशी शासन के अत्याचारों, उनसे प्रसूत जन-यातनाओं और जनता के मन में उठती हुई क्रोध तथा असंतोष की ललकारों का चित्रण। यह क्रिया बहुत स्थूल रूप में भी हो सकती है और बहुत सूक्ष्म तथा संश्लिष्ट रूप में भी। आवेश की प्रधानता के कारण प्रायः यह स्थूल ही होती है। दैनिकों, साप्ताहिकों में प्रकाशित होने वाली सामान्य कवियों की इस कोटि की कविताएँ तो स्थूल और सामयिक हैं ही अच्छे कवियों की भी कविताओं को कोई स्थाई महत्व नहीं प्राप्त हो सका। फिर भी इन कविताओं का ऐतिहासिक महत्व है। इस प्रकार की राष्ट्रीय कविताओं का महत्वपूर्ण स्वर प्रस्तुत अवधि में दिनकर सोहनलाल द्विवेदी, नवीन, माखनलाल चतुर्वेदी की कृतियों में सुनायी पड़ता है। वास्तव में प्रेमचन्द के उपन्यासों में तत्कालीन भारतीय जीवन को जकड़ती हुई विदेशी सत्ता, सामंतवाद, महाजनी सभ्यता के जिस जटिल और

बुनियादी स्वरूप को उभारा गया है, उसे भावुकता से संचालित इस प्रकार की राष्ट्रवादी कविताएँ मुखर नहीं कर सकी हैं। इनमें वस्तुस्थिति की सही व्याख्या के स्थान पर भावुक प्रतिक्रिया है। ये कविताएँ जितना स्पंदित करती हैं, उतना समझने की दृष्टि नहीं देतीं। और यह स्पंदन-शक्ति समय के साथ चुक गयी है। हां, इस संदर्भ में एक बात अवश्य लक्षित करने की है कि १९३८ के आस पास के राष्ट्रीय जीवन की यातना और आक्रोश के स्वर में एक नया उभार लक्षित होता है। छायावाद काल में गांधी जी के प्रभाव से आत्मपीड़न तथा अहिंसा-जन्य नरम प्रतिरोध दिखाई पड़ता है, किन्तु वामपंथी दलों के उदय, समाजवादी सिद्धान्तों के प्रचार तथा विदेशी शासन के झूठे वायदों और अधिकाधिक कठोर, विषम एवं जटिल होती परिस्थितियों के कारण साहित्य का स्वर अधिक उग्र, यथार्थवादी और लोकोन्मुख होता गया। दूसरी बात यह हुई कि प्रगतिवाद के प्रभाव से देश के भीतर बनते हुए शोषकों तथा शोषितों के अनेक वर्गों की पहचान होती गयी। लड़ाई केवल अंग्रेज़ी सत्ता से ही नहीं है बल्कि सामंती, महाजनी सभ्यता और उनके प्रतिनिधि देशी शोषकों से भी है, जो अपने ही देश की जनता के लिए अपने-अपने ढंग से भयंकर शोषण के अस्त्र-शस्त्र बन रहे हैं। राष्ट्रीयता का यह नया स्वर दिनकर में अधिक उभर कर आया। छायावाद की राष्ट्रीयता में जो हवाई आदर्श और लक्ष्य-अरूपता थी, उसे दिनकर जैसे कुछ कवियों ने ठोस धरातल पर ग्राम-परिवेश में मूर्त रूप प्रदान किया। कवि की दृष्टि में भारत का स्वरूप अपने समूचे प्रत्यक्ष सुख-दुख के साथ उभरने लगा। अतः कहा जा सकता है कि प्रगतिवाद ने भारतीय राष्ट्रीयता को अधिक प्रत्यक्ष किया, उसे आकाश से धरती पर उतारा, उसे जनजीवन से जोड़ा। राष्ट्र की मुक्ति को नये समाज-निर्माण के भाव से संयुक्त किया—

उठो, उठो ओ नंगो भूखो
ओ मजदूर किसान उठो
इस गतिमय मानव समूह के
ओ प्रचंड अभिमान उठो
शतियों के आदर्श तुम्हारे
मूर्त रूप घर आये हैं
नव समाज के नवल सृजन का
नया सन्देशा लाये हैं

दिशि-दिशि में समता स्थापन के
ये अभिनव स्वर छाये हैं
महाक्रांति के नव विधान हित
तुम करने बलिदान उठो।

'हम विष पायी जनम के'

कहा जा चुका है कि राष्ट्रीयता का सम्बन्ध देश के स्थूल सुख-दुख और आक्रोश के चित्रण से ही नहीं होता है बल्कि राष्ट्र की आत्मा या चेतना की पहचान से होता है, वरन् उसी से अधिक होता है। यह चेतना स्थिर न हो कर गतिशील रहती है, अर्थात् नव-नव परिस्थितियों में नये-नये कोण उभारती रहती है और पुराने कोण छोड़ती रहती है। संस्कृति का सम्बन्ध इसी आत्मा या चेतना से होता है। यह संस्कृति जहां इतिहास के रूप में हमारे लिए प्रेरणा और पृष्ठभूमि बनती है, वहां वर्तमान चेतना से स्पन्दित हो कर हमारा जीवन बन जाती है। वर्तमान चेतना से अनुप्राणित हो कर ही संस्कृति की धारा जीवन्त प्रवाह प्राप्त करती रहती है। मात्र इतिहास बन कर वह नहीं जी सकती, अवरुद्ध हो जाती है। हिन्दी की राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविताओं के इस स्वर की परीक्षा करें तो ज्ञात होगा कि प्रतिभावान, नव-दृष्टि-संपन्न और महत्वपूर्ण कवियों ने संस्कृति के उदात्त अतीत रूप को वर्तमान जीवन-सन्दर्भों में पुनर्परीक्षित कर के स्वीकार किया है। इस प्रकार इतिहास सहज ही आज के प्रश्नों, दृष्टियों और मानव-संवेदनों से जुड़ कर हमारे लिए अधिक मूल्यवान और सार्थक बन गया है। यह प्रयास प्रस्तुत अवधि के पूर्व रचित महत्वपूर्ण काव्य-कृतियों-यशोधरा, पंचवटी, साकेत प्रिय-प्रवास, कामायनी, राम की शक्तिपूजा आदि में भी लक्षित होता है।

प्रस्तुत अवधि में प्रकाशित काव्य कृतियों में प्रमुख हैं—'कुरुक्षेत्र', 'जयभारत', 'नकुल', 'रश्मिरथी'। इनके अतिरिक्त 'इतिहास के आँसू' की फुटकल कविताओं को भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है। इन कृतियों में वर्तमान जीवन-प्रश्नों का प्रत्यक्ष या परोक्षा अंकन, आकलन तो अवश्य है, किन्तु उन्हें परिणति देने वाला स्वर भारतीय है, अर्थात् भारतीय संस्कृति के किसी उदात्त स्वर की तलाश ही इन प्रश्नों के बीच भटकती है। 'कुरुक्षेत्र' का प्रसंग महाभारत से लिया गया है, किन्तु उसकी यातना, टूटन, ध्वंस महाभारत की अपेक्षा आज का अधिक है—विश्व-युद्धों की छाँह में छटपटाने वाली विश्व-मानवता की यातना, टूटन और ध्वंस। कवि ने इतिहास से जानबूझ कर ऐसा प्रसंग लिया है, जो

उसे वर्तमान की यातना और समस्या से जोड़ सके। कवि का शंकाकुल हृदय भाव और विचार बन कर, युधिष्ठिर और भीष्म बन कर संहार के विस्तार के बीच असहाय सा घूमता फिरा है। किन्तु इन वर्तमान विभीषिकाओं से निकलने का कोई मार्ग है तो एक ही—त्याग, सत्य, समवेदनामयी मानवता, जो भारतीय संस्कृति का जाना पहचाना मार्ग रहा है। यह बात भी लक्षित करने की है कि कवि ने इन चमकीले मूल्यों की परीक्षा की है और कालान्तर में उत्पन्न उनके खोखलेपन तथा विसंगतियों को निर्ममता से अनावृत किया है एवं उचित वर्तमान जीवन, सन्दर्भों,, विचारों साम्यवाद विज्ञान, कर्म आदि से जोड़ कर उहें नया अर्थ दिया है। इसी प्रकार 'रश्मिरथी, में इतिहास के एक उपेक्षित पात्र (या वह पात्र जिस की विशेषताएँ उपेक्षित कर दी गयी थीं) कर्ण को वर्तमान जीवन प्रसंगों में नये दृष्टिकोण के साथ प्रस्तुत किया है। प्राचीन काल में आभिजात्य का आतंक था, जिसमें भारतीय सभ्यता का मूल मानवीय स्वर डूब-डूब जाता रहा है। आज भी आभिजात्य का आतंक कम नहीं हुआ है, किन्तु इसके बावजूद आज का युग जन-सामान्य की महत्ता स्थापित करने में संलग्न हैं, आज के मनीषी और कलाकार की दृष्टि में अभागे मानव की यातना और महत्ता स्पष्ट होती जा रही है। इसी दृष्टि ने कर्ण को इतिहास के खंडहरों में से निकाल कर नया रूप प्रदान किया है या यों कहा जाय कि उस के व्यक्तित्व के उन पहलुओं को संघटित कर एक नयी रचना का रूप दिया गया है, जो उपेक्षित थे, किन्तु आज क जीवन के बहुत समीप जान पड़ते हैं। उसका अभाग्य, उसकी यातना, उसका पौरुष, उसका संघर्ष, उसका अकेलापन उसे आज के एक ईमानदार लांछित, अभागे आदमी के बहुत पास ला देता है। कवि ने कर्ण और परशुराम के माध्यम से वर्तमान जीवन-सन्दर्भों में उभरने वाले अनेक प्रश्नों, संवेदनाओं, और सम्बन्धों को आधुनिक दृष्टि से देखा परखा है। किन्तु जहां तक प्रश्न मूल्य का है, उसे उसने भारतीय संस्कृति से ही प्राप्त किया है। हां, यहां भी नये संदर्भों की खराद पर चढ़ कर उनमें नयी चमक आ गयी है, परम्परा से चिपकी पपड़ियां झड़ गयी हैं। त्याग, दान, मैत्री, सत्य वादिता आज के व्यावसायिक युग के मूल्य नहीं रह गये हैं, किन्तु अत्यन्त मानवीय नियति से गुजरने वाला कर्ण इन मूल्यों का प्रतीक है, जिन्हें उसने अपनी भारतीय संस्कृति से प्राप्त किया है। अभागे मानव की नियति और पौरुष का प्रतीक कर्ण स्वयं अपने बारे में कहता है—

मैं उनका आदर्श कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे,
पूछेगा जग, किन्तु, पिता का नाम न बोल सकेंगे।
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा,
मन में लिये उमंग, जिन्हें चिरकाल कलपना होगा।
श्रम से नहीं विमुख होंगे जो दुःख से नहीं डरेंगे,
सुख के लिए पाप से जो नर संधि न कभी करेंगे।
कर्ण धर्म होगा धरती पर बलि से नहीं मुकरना,
जीना जिस अप्रतिम तेज से, उसी शान से मरना।

'जयभारत' संपूर्ण महाभारत की कथा को संक्षिप्त रूप में ग्रहण करता है। इस प्रकार उसका फलक विस्तृत है, तथा कलेवर बड़ा। किन्तु सर्जन की जो सार्थकता गुप्तजी की अन्य कृतियों—'साकेत', 'पंचवटी', 'यशोधरा', में दिखायी पड़ती है, वह इसमें नहीं, क्योंकि यहाँ महाभारत की सारी कथा को प्रायः उसके अपने क्रम में स्वीकारा गया है। इतनी बड़ी कथा को संपूर्ण रूप से थोड़े में कहने के कारण कवि को कथा को ही सुलझाने में व्यस्त रहना पड़ा है। मुक्त भाव से किसी पक्ष को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विकसित करना कठिन हो गया है। हाँ, कहीं-कहीं स्वीकृत कथा के ही प्रसंग में कवि ने छोटी-छोटी भावोद्भावनाएं कर काव्य को चमक देने का प्रयत्न किया है, जैसे स्वर्ग से च्युत होता हुआ नहुष कहता है—

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी,
मैं ही तो उठा था आप, गिरता हूँ जो अभी।
फिर भी उठूँगा, और बढ़के रहूँगा मैं,
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं।

इनसे सिद्ध यह होता है कि संस्कृति अपने प्राचीन रूप में (वह चाहे कितना ही उदात्त क्यों न हो) प्रस्तुत होकर सार्थक और जीवंत नहीं बनती, वह वर्तमान जीवन-संदर्भों और दृष्टियों से जुड़ कर ही सार्थक तथा जीवंत होती है। इसलिए जो राष्ट्रीय सांस्कृतिक कृतियाँ अपने गौरव मय अतीत को, उनकी किसी मूल्यवान घटना, पात्र या आदर्श को ज्यों का त्यों प्रस्तुत कर देती हैं, उन्हें अपने काल के जीवन से किसी प्रकार नहीं जोड़तीं। वे वास्तव में सर्जन के स्तर पर अपनी कोई बड़ी सार्थकता प्रमाणित नहीं करतीं, वे राष्ट्र की चेतना को स्पर्श नहीं करतीं, उनके नवीन चिंतन, प्रश्न, संक्रान्त जीवन-संबन्धों को उजागर न कर अतीत का मोहासक्त रूप प्रस्तुत करती हैं।

इस प्रकार भारतीय अतीत के किसी गौरवमय प्रसंग पर आधारित प्रस्तुत कालावधि की कृतियों को दो भागों में बांट सकते हैं—एक ओर दिनकर की 'कुरुक्षेत्र' 'रश्मिरथी' सियारामशरण गुप्त की 'नकुल' मैथिलीशरण गुप्त की 'जयभारत' (आंशिक रूप से) कृतियाँ हैं, जो अतीत को वर्तमान से जोड़ती हैं, दूसरी ओर सोहनलाल द्विवेदी की 'कुणाल' तथा अन्य फुटकल कविताएं, श्याम नारायण पांडे की 'हल्दीघाटी' 'जौहर' गुरुभक्त सिंह की 'नूरजहाँ' आदि कृतियाँ हैं, जो अतीत का रसमय चित्र प्रस्तुत करती हैं तथा किसी भारतीय जीवन-दर्शन को ध्वनित करती हैं। वे वर्तमान जीवन को अनुप्राणित नहीं कर सकतीं। हाँ, 'हल्दीघाटी' और 'जौहर' जैसी कृतियाँ अवश्य अपने ओजस्वी स्वर से उन लोगों में जोश जगाती हैं, जो आज के भारत की संश्लिष्ट संस्कृति और संश्लिष्ट प्रकृति से अवगत न हो कर भारतीय नहीं, हिन्दू संस्कृति और हिन्दू राज्य का सपना देखते हैं। चन्दवरदाई, भूषण और श्याम नारायण पांडेय की राष्ट्रीयता में कोई अन्तर नहीं दिखाई पड़ता।

राष्ट्रीय सांस्कृतिक कविता का एक और पक्ष है, जो छायावाद काल से ही लक्षित होता है। वह है रहस्योन्मुखता। राष्ट्रीयता संस्कृति के साथ जुड़ जाने के कारण उसकी सभी छायाओं से संयुक्त हो उठती है। रहस्यवादिता प्रारंभ से ही भारतीय संस्कृति की एक छाया रही है। वह छायावाद की परोक्ष शैली, प्रच्छन्न अनुभूति और अरूप दार्शनिकता तथा विवेकानन्द गांधी, टैगोर के व्यक्तित्वों का स्पर्श पा कर आधुनिक काल में और मुखर हो उठी। इसलिए प्रसाद, पंत, निराला, महादेवी आदि शुद्ध छावावादी कवियों के साथ-साथ माखनलाल चतुर्वेदी और बालकृष्ण शर्मा नवीन जैसे राष्ट्रीय कविता लिखने वाले कवियों में भी रहस्योन्मुखता दिखाई पड़ती है। अन्य राष्ट्रवादी कवि इस स्वर से आक्रान्त नहीं हैं, बल्कि ३८ के पश्चात् दिखाई पड़ने वाली धारा तो इतनी प्रत्यक्षतावादी है कि उसमें इसका अवकाश ही नहीं हो सकता। माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन भाव और शिल्प दोनों दृष्टियों से छायावाद से असंयुक्त नहीं हैं, भले ही इन्होंने मुख्यतः राष्ट्रीय आन्दोलन को स्वर दिया है। इसलिए, उसकी रहस्यवादिता से भी ये मुक्त नहीं हो सके। इन दोनों की राष्ट्रीय कविताओं के बीच-बीच में इस प्रकार रहस्योन्मुखता उभर जाती है कि पूरी की पूरी कविता कोई निश्चित प्रभाव ही नहीं जगा पाती। इस प्रकार 'हिमकिरीटनी', 'हिमतरंगिनी', 'रश्मिरेख', 'अपलक,' 'क्वासि' सभी की राष्ट्रीय कविताएं आध्या-

त्मिक रहस्यवाद से आक्रांत है। यह रहस्यवाद राष्ट्रीय कविताओं के संदर्भ में कुछ बेमेल दीखता है।

मैथिलीशरण गुप्त

गुप्त जी इस धारा के श्रेष्ठ कवि हैं। कवि ने अपने समय की समस्त राष्ट्र-चेतना को अपने शब्दों में स्वर दिया है। काव्यात्मक दृष्टि से यह स्वर बड़ा ही विषम है, कहीं गहन, कहीं एकदम सपाट सामान्य विवरणात्मक। फिर भी जहाँ तक अपने युग को उसके बहुरंगी रूप में पकड़ने का प्रश्न है, गुप्त जी बहुत जागरूक कवि रहे हैं। इनका काव्य युग की घटनाओं, राष्ट्र की विषम अवस्थाओं, स्वाधीनता-आन्दोलन के विविध प्रयासों, प्राचीन आदर्शों और मूल्यों, नवीन चेतनाओं का साक्षी रहा है और निश्चय ही 'साकेत', 'पंचवटी', 'यशोधरा' जैसी कृतियों में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना बहुत काव्यात्मक रूप में व्यक्त हुई है, या यों कहा जाए कि युग के संदर्भ में राष्ट्रीय और सांस्कृतिक चेतना की पकड़ ने हिन्दी साहित्य को 'साकेत', "यशोधरा' और 'पंचवटी' जैसी विशिष्ट काव्यकृतियाँ प्रदान कीं। किन्तु जहां तक प्रस्तुत कालावधि का प्रश्न है, गुप्त जी अपने इस क्षेत्र में सक्रिय रह कर भी कुछ विशिष्ट नहीं दे सके।

रामधारी सिंह दिनकर

इस धारा के इस कालावधि के सब से सशक्त कवि 'दिनकर' हैं। दिनकर में संवेदना और विचार का बड़ा सुन्दर समन्वय दिखाई पड़ता है। चाहे व्यक्तिगत प्रेम-सौन्दर्य-मूलक कविताएँ हों, चाहे राष्ट्रीय कविताएँ, सभी कवि की संवेदना से स्पंदित हैं। दिनकर में आरम्भ से ही अपने को अपने परिवेश से जोड़ने की तड़प दिखाई पड़ती है, इसलिए उनमें सर्वत्र एक खुलापन है, लोकोन्मुखता है, सहजता है—व्यक्तिगत प्रेम सौन्दर्य-मूलक कवितओं में भी। छायावाद या उत्तर छायावादी वैयक्तिक कविता की कुंठा, अतिरिक्त अवसाद तथा निराशा के घिराव के स्थान पर प्रसन्नता और सर्वत्र सौन्दर्य के प्रति स्वस्थ मानवीय प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। दिनकर की सब से बड़ी विशेषता है अपने देश और युग के सत्य के प्रति जागरूकता। कवि देश और काल के सत्य को अनुभूति और चिंतन दोनों स्तरों पर ग्रहण करने में समर्थ हुआ है। इसलिए उसकी कविताओं में युग-सत्य शुष्क चिन्तन, सिद्धांत या फार्मूला बन कर नहीं उभरा है, सर्वत्र कविता का रूप पा सका है। कवि

ने राष्ट्र को उसकी तात्कालिक घटनाओं, यातनाओं, विषमताओं, समताओं आदि के ही रूप में नहीं, उसकी संश्लिष्ट सांस्कृतिक परंपरा के रूप में पहचाना है और उसके प्राचीन मूल्यों का नये जीवन-संदर्भों के परिप्रेक्ष्य में आकलन कर एक ओर उन्हें जीवंतता प्रदान की है, दूसरी ओर वर्तमान की समस्याओं और आकांक्षाओं को महत्व देते हुए उन्हें अपने प्राचीन किन्तु जीवंत मूल्यों से जोड़ना चाहा है। स्वाधीनता प्राप्ति के पश्चात् देश में उभरने वाली राजनीतिक, सामाजिक विसंगतियों को भी कवि की तीव्र दृष्टि ने पहचाना तथा पूरे विश्व में उभरने वाले समाजवाद, युद्ध और शांति जैसे प्रश्नों (जिस पर भारत अहिंसा की दृष्टि से विचार करता रहा है) की तड़प का अनुभव किया। इस प्रकार दिनकर की राष्ट्रीयता बहुत गतिशील, संश्लिष्ट और उदार है— उसमें तात्कालिकता, परंपरा, राष्ट्रीयता, अंतर्राष्ट्रीयता, मानवता, भावनाशीलता, वैचारिकता का अद्भुत समन्वय है। दिनकर ने राष्ट्रीयता को भावनात्मक प्रतिक्रिया से उबार कर चिंतन, परीक्षण तथा आत्मालोचन का स्वस्थ रूप देने का प्रयत्न किया।

माखनलाल चतुर्वेदी और नवीन

इन दोनों कवियों में बहुत साम्य है। यों नवीन जी सौन्दर्य और प्रेम की आसक्त कविताएँ लिखने के कारण छायावादी कवियों के समीप पहुँच जाते हैं किन्तु जहाँ तक राष्ट्रीय, सांस्कृतिक कविता का प्रश्न है, इन दोनों की प्रवृत्तियाँ समान दिखाई पड़ती हैं। दोनों का सम्बन्ध मूलतः राष्ट्र की तत्कालीन अवस्था से है, दोनों ने पराधीन राष्ट्र की व्यथा, अंग्रेजी शासन के अत्याचार, स्वाधीनता-सेनानियों के अदम्य उत्साह, कारागार-यात्रा और उसकी बेबसियों आदि के चित्रण में ही अपनी व्यस्तता दिखाई है, सांस्कृतिक पक्ष उनसे प्रायः छूट ही गया है। वर्तमान के संदर्भ में अतीत के पुनर्परीक्षण, संक्रान्त मूल्यों के आकलन, वृहत्तर मानवीय प्रश्नों और संवेदनाओं के अनुभव में ये कवि नहीं रम सके हैं। संस्कृति के नाम पर इनके यहाँ सपाट आध्यात्मिकता और रूढ़ रहस्योन्मुखता दिखाई पड़ती है, जो कहीं तो अलग रह कर अपना रंग दिखाती है और कहीं राष्ट्रीय चेतना के साथ लिपट कर उसे भी उलझा देती है।

सियारामशरण गुप्त

गुप्त जी और दिनकर के समान सियारामशरण गुप्त इस धारा के विशिष्ट कवि हैं। ये पक्के गांधीवादी हैं। इनकी कृतियों में सर्वत्र गांधीवाद-

की अभिव्यक्ति दीखती है। आपने देश की ज्वलंत घटनाओं और समस्याओं का बड़ा जीवंत चित्र प्रस्तुत किया है; किन्तु संस्कृति के उदात्त तत्वों के प्रति गहरी आस्था रखने वाले सियारामशरण जी इन घटनाओं, अवस्थाओं और समस्याओं को तात्कालिक तथ्य के रूप में न देख कर उन्हें बृहत्तर मानवीय मूल्यों, संवेदनाओं और संदर्भों से जोड़ देते हैं। इसलिए इनके काव्यों की पृष्ठभूमि अतीत हो या कि वर्तमान, उनमें आधुनिक मानवता की करुणा, यातना और द्वन्द्व का समन्वित रूप उभरा है। कवि अतीत को 'नकुल' में इस प्रकार सर्जित करता है कि वर्तमान से अपने को जोड़ सके। सियारामशरण ने भारत की जिस किसी तात्कालिक घटना को लिया है, उसे एकदेशीयता से ऊपर उठा कर वृहत्तर मानवीय मूल्य का स्तर प्रदान किया है, मात्र राष्ट्रीयता कवि को स्वीकार्य नहीं। चाहे कवि की कृति 'बापू' हो चाहे, 'नोआखाली', चाहे 'उन्मुक्त' सर्वत्र गांधीवाद (जो कि राष्ट्रीय चेतना से जुड़ कर भी सार्वभौम मानवता के लिए एक उच्चतर जीवन संदेश है) का उदात्त स्वर ध्वनित होता है। भारत की राष्ट्रीयता का सच्चा रूप उसके सामयिक प्रश्नों को सुलझाने के साथ साथ उसकी संस्कृति के मानवीय स्वर को पहचानने में है। 'उन्मुक्त' आधुनिक अन्तर्राष्ट्रीय संदर्भ में बहुत महत्व पूर्ण कृति है। युद्ध और शांति को लेकर तो बहुत सी छोटी-छोटी कृतियाँ आयीं, किन्तु युद्ध को व्यापक राष्ट्रीय और मानवीय संदर्भ में रख कर उसके संश्लिष्ट रूप को उभारने वाली तथा काव्य की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण दो ही कृतियाँ आयीं—'कुरुक्षेत्र' और 'उन्मुक्त'। इन दोनों कृतियों में अपने ढंग से युद्ध की अनिवार्यता, त्याग बलिदान, यातना-विभीषिका और मानवीय करुणा का अद्भुत समन्वय हुआ है। 'उन्मुक्त' में 'कुसुमपुरी' एक शांतिप्रिय नगर है। वह शाँतभाव से कला सौन्दर्य और शांति की उपासना करता है किन्तु अत्याचारी लौहपुरी के लोग उसे युद्ध करने पर मजबूर करते हैं। कवि की दृष्टि में यथार्थ और स्वप्न का बड़ा सुन्दर सामंजस्य है। यथार्थ यह कि कवि ने लौहपुरी जैसे युद्ध प्रिय शक्तिशाली नगर के आक्रमण के फलस्वरूप कुसुमपुरी जैसे शांत कोमल नगर की होने वाली अनिवार्य परिणतियों को बड़ी सच्चाई से प्रस्तुत किया है, उसके शौर्य और पराजय को सही ढंग से आंका है, मानवीय घृणा और कुरूपता को उभारा है। किन्तु इस सारे कठोर यथार्थ के भीतर से मानवीय यातना और करुणा को उभार कर मनुष्य और समाज के प्रेम और अहिंसा को बहुत प्रभावशाली ढंग से प्रतिष्ठित किया है। यथार्थ और स्वप्न दोनों के निरूपण के लिए कवि ने बहुत समर्थ और जीवंत बिम्बों की रचना की है।

५

प्रगतिवाद

५. प्रगतिवाद

प्रगतिवादी काव्य की संज्ञा उस काव्य को दी गई जो छायावाद की समाप्ति पर १९३६ के आसपास से समाजिक चेतना को लेकर निर्मित होना आरम्भ हुआ। इसके शब्दार्थ से इसके स्वरूप को समझने में भ्रांति पैदा होती रही है इसलिए यही समझना चाहिए कि यह नाम उस काव्यधारा का है जो मार्क्सवादी दर्शन के आलोक में सामाजिक चेंतना और भावबोध को अपना लक्ष्य बना कर चली। प्रगतिवादी काव्य के उद्भव और विकास में राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियाँ तो सहायक हुईं ही, साथ ही साथ छायावाद की जीवन-शून्य होती हुई व्यक्तिवादी वायवी काव्यधारा की प्रतिक्रिया भी उसमें निहित थी।

एक ओर भारतीय समाज में उभरता हुआ जन-संकट था तो दूसरी ओर रूस में मार्क्सवादी दर्शन के आधार पर स्थापित साम्यवाद था जो वहाँ के विषम संकट और संघर्ष से गुजरे जनजीवन को बल दे रहा था, जो सामंतवाद और पूंजीवाद की विभीषिकाओं का कुचलकर सर्वहारा का अधिनायकत्व स्थापित कर रहा था। भारतीय बुद्धिजीवी एक ओर अपने समाज में उत्पन्न अनेक सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक विसंगतियों और संकटों को देख रहा था, दूसरी ओर वह रूस के उस समाज को देख रहा था जो इन विसंगतियों और संकटों से गुजर कर एक ऐसी व्यवस्था स्थापित कर रहा था जिसमें सामान्य जनज़ीवन को महत्ता प्राप्त हो रही थी, जहाँ नये सुख, सुविधा की प्रतिष्ठा हो रही थी। रूस में प्रतिष्ठित साम्यवाद और पश्चिम के अन्य देशों में फैलता हुआ उसका मार्क्सवादी दर्शन भारतीय बुद्धिजीवियों के लिए प्रेरणा-केन्द्र बन रहा था। इधर देश की परिस्थिति विषम हो रही थी और उस विषम परिस्थिति में नौजवानों का हृदय असंतोष और विद्रोह से कसमसा रहा था। देश की अवस्था प्रगतिवादी विश्वासों और स्वरों के लिए उपयुक्त भूमि बन रही थी।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रगतिवादी साहित्य की पृष्ठभूमि पर विचार करते हुए यह कहा है 'आरंभ में मानवतावाद मानवता को शोषण बंधन से मुक्त करने के बड़े महान् और उदार आदर्शों से चालित हुआ था

की अभिव्यक्ति को नहीं। अर्थात् प्रगतिशील लेखक की भावना सामाजिक भावना है, व्यक्तिगत नहीं। वह सौन्दर्य को अपने हृदय या दूसरे की आंखों में देखने की अपेक्षा सामाजिक स्वास्थ्य में देखता है। अपनी ही समस्याओं और भावनाओं में उलझे रहना—व्यक्ति को समष्टि से पृथक देखने का प्रयत्न—मिथ्या है, और साथ ही एक रुग्ण या विकृत मनोवृत्ति का परिचायक है। दूसरे शब्दों में इस प्रकार प्रगतिशील साहित्य का उद्देश्य अहं का सामाजीकरण है[१]।

'सामाजिक यथार्थ' शब्द का भ्रांत अर्थ लेने वाले भी कम नहीं हैं। वे समाज की ऊपरी सतह पर दिखाई पड़ने वाली निर्जीव और पतनोन्मुख समाज की विकृतियों को ही सामाजिक यथार्थ मान बैठते हैं और ऐसा मानने वालों में दो वर्ग हैं—एक तो आदर्शवादी हैं जो वास्तविक जगत को छोड़ कर हमेशा ऊपर ऊपर उड़ने की कोशिश करते हैं। वे इन विकृतियों को ही यथार्थ मान कर घृणा करने लगते हैं। दूसरे वे व्यक्तिवादी हैं जो इन विकृतियों को ही समाज का यथार्थ मान कर उनका चित्रण करने लगते हैं और सबसे बड़ा यथार्थवादी होने का दम भरते हैं। मार्क्सवादी दृष्टि इस प्रकार की सतही यथार्थ-जन्य भ्रांतियों में न फंस कर बुनियादी सत्य को देखती है। बुनियादी सत्य क्या है ? प्रत्येक युग में यथार्थ की दो शक्तियों का द्वन्द्व चलता रहता है-मरणोन्मुख पुरानी शक्तियों और नवीन जीवंत शक्तियों का। सामाजिक स्तर पर पुरानी शक्तियों में शोषक लोग होते हैं और नवीन शक्तियों में शोषित गरीब किसान मजदूर होते हैं। नवीन जीवन्त शक्तियां पुरानी शक्तियों को नष्ट कर नवीन जनमंगलशाली समाज की स्थापना की कोशिश करती हैं। ऊपरी सतह पर तो पुरानी शक्तियों की विकृतियां उतराई रहती हैं लेकिन उसके नीचे नवीन शक्तियां धीरे धीरे उन्हें काटती रहती हैं। ये शक्तियां व्यक्ति की नहीं समाज की होती हैं, उनमें पीड़ा और अभाव के साथ ही साथ जिन्दगी का अडिग विश्वास और भविष्य की सुन्दर आकांक्षा होती है। इन अनेक बुनियादी तत्वों को ग्रहण करने वाला ही सच्चा यथार्थवादी है। ऐसा ही साहित्य अपने युग की वास्तविकता का सच्चा प्रतिनिधि होता है और भावी युगों के साहित्यों के लिये प्रेरणा-स्रोत होता है। 'प्राचीन काल में लिखी गई पुस्तकें जो अपने काल के जीवन

---

[१] आधुनिक हिन्दी कविता की मुख्य प्रवृत्तियां-पृष्ठ १०१ डा० नगेन्द्र

की सतह का ठीक चित्रण करती थीं और जो आज हमारे अनुभव सिद्ध जीवन के बारे में हमें कुछ नहीं बतातीं साहित्य के नाते मृत हैं चाहे ऐतिहासिक लेख्य पत्र के रूप में उनका महत्व भले ही हो। तथापि अतीत में जिस पुस्तक ने जीवन की सतह के नीचे काम करने वाली शक्तियों को प्रतिबिम्बित किया है वह बहुत सम्भव है हमारे आज के बुनियादी यथार्थों के बारे में भी महत्वपूर्ण बातें बता सके। सतह के ऊपर गति नीचे से अधिक क्षिप्र होती है और जितनी ही गहराई से किसी लेखक की अन्तर्दृष्टि सतह भेद कर नीचे पहुचेंगी उतने ही अधिक दीर्घकाल तक उसकी कृति परिवर्तनशील यथार्थ-जगत के प्रति बासी पुरानी नहीं पड़ेगी।[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामाजिक यथार्थ के अन्तर्गत पुरानी शक्तियों के अत्याचार और कुरूपताएं तथा उनसे युद्ध करती नवीन शक्तियों के दुख-दर्द, सामूहिक विश्वास और संघर्ष तथा भविष्य के प्रति अडिग आस्था ये सारी बातें मिले जुले रूप में आती हैं। प्रगतिवाद जिसका दर्शन मार्क्सवादी है भिन्न भिन्न युगों के साहित्यों की उन युगों की वास्तविकताओं के आधार पर परीक्षा करता है। भिन्न भिन्न युगों के संघर्षों और सामाजिक सम्बन्धों की रूप रेखाएं भिन्न भिन्न होती हैं, प्रत्येक युग का जीवंत साहित्य अपने युग के सामाजिक सम्बन्धों और जन-विश्वासों को व्यक्त करता है। वह युग की नवीन सामाजिक जागृति और उसके अनेक पहलुओं को चित्रित करता है। प्रगतिशील साहित्य समाज के युगीन सम्बन्धों को छोड़ कर हवा में शाश्वत का महल बनाने वाले साहित्य को नकली और निर्जीव मानता है। यदि कोई शाश्वत वस्तु है तो यही कि नवीन सामाजिक मानवता सदैव पुरानी और जर्जर दानवी शक्तियों से युद्ध करती है। विभिन्न युगों की ये ही सामाजिक मानवता की भावनाएं परंपरा का निर्माण करती हैं।

आज के युग में बुनियादी शक्तियां वे हैं जो पूंजीवाद को नष्ट कर समाजवाद स्थापित करने के लिये प्रयत्नशील हैं। इन बुनियादी शक्तियों को पहचानने और उनका समर्थन करने वाला साहित्य अनिवार्य रूप से किसानों, मजदूरों के संघर्ष को रूपायित कर उसे बल प्रदान करता है तथा पूंजीवादी (और सामंतवादी भी) शक्तियों की शोषक, स्वार्थी, स्वकेन्द्रित जर्जर, विसंगतिमय प्रवृत्तियों पर चोट करता है। इस प्रकार प्रगतिवादी

---

[1] साहित्य की मार्क्सवादी व्याख्या, हंस प्रगति अंक—एडवर्ड अपवर्ड

पहुँचना और जनता के जीवन की ही बात कहना उसका लक्ष्य रहा। इसलिए वह छायावाद की वायवी, असामान्य, रेशमी परिधानशालिनी और सूक्ष्म भाषा को छोड़ कर सुस्पष्ट, सामान्य, प्रचलित भाषा को अपना कर चली। उसने प्रतीक, बिम्ब, शब्द, मुहावरे, चित्र सभी जनजीवन के बीच से लिए। इसलिए एक बहुत ही जीवन्त भाषा का उदय हुआ जैसे रंगीन कुहासे को तोड़ कर विषम यथार्थ धरातल उभर उठा हो। किन्तु प्रगतिवाद के आरम्भ में भाषा शैली की यह स्पष्टवादिता अतिवादिता को पहुँच कर व्यख्यान की भाषा की तरह सपाट हो गई, उसमें अभिधा की प्रधानता हो गई। शैली सांकेतिक और चित्रात्मक न होकर उपदेशात्मक हो गई। इस प्रकार काव्य का कलात्मक सौन्दर्य निखर नहीं पाया किन्तु यह दृष्टिकोण का दोष नहीं था यह उस दृष्टिकोण को ठीक ढंग से न समझ पाने का परिणाम था। ज्यों-ज्यों आन्दोलन का उफान मन्द पड़ता गया या ज्यों-ज्यों लोग मार्क्सवादी दृष्टि को साहित्य के संदर्भ में ठीक ढ़ंग से समझते गए त्यों-त्यों काव्य प्रचारात्मक, अभिधात्मक, सपाट रूप को छोड़ कर अधिक चित्रात्मक, गहन और सांकेतिक होता गया। कहा जा सकता है कि प्रयोगवाद और नयी कविता में बहुत-सी कविताएं ऐसी हैं जो प्रगतिवाद का स्वस्थ रूप प्रस्तुत करती हैं। प्रचार के समय भी ऐसी कविताएं काफी संख्या में लिखी गयीं जो स्वस्थ सुन्दर काव्य की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण हैं। रामविलास शर्मा, नागार्जुन, मुक्तिबोध, केदारनाथ अग्रवाल और त्रिलोचन की बहुत सी कविताएं उच्च कोटि की कविताएं हैं।

प्रगतिवाद ने अपनी सीमाओं के बावजूद हिन्दी काव्य धारा के विकास में एक बहुत ही महत्वपूर्ण अध्याय जोड़ा। उसने काव्य को (साहित्य मात्र को) व्यक्तिवादी यथार्थ के बंद कमरे से निकाल कर जन-जीवन के बीच प्रवाहित कर दिया, जीवन और साहित्य के मूल्य, सौन्दर्य-बोध और लक्ष्य को समाज के यथार्थ और उसकी रचना से जोड़ा, भाषा को कुहरे से निकाल कर धरातल पर प्रतिष्ठित किया। सुमित्रानन्दन पंत, केदारनाथ अग्रवाल, नागार्जुन, मुक्तिबोध, रामविलास शर्मा, भारतभूषण अग्रवाल, शिवमंगलसिंह 'सुमन', त्रिलोचन इस धारा के प्रमुख कवि हैं जिनकी काव्योपब्धियों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ आवश्यक है।

सुमित्रानंदन पंत—सच्चे अर्थों में पन्त जी हिन्दी के पहले प्रगतिवादी कवि कहे जा सकते हैं। पंत जी छायावाद के श्रेष्ठ कवियों में से एक हैं।

उनकी प्रतिभा, उनकी कल्पनाशक्ति और अभिव्यक्ति-कौशल से हिन्दी साहित्य जगत पहले परिचित हो चुका था। उन्होंने छायावाद की नवयुगोचित काव्य रच सकने की असमर्थता की घोषणा की और मार्क्स के भौतिक दर्शन के आधार पर नया (प्रगतिशील) काव्य रचने का संकल्प सा लिया। पंत जी की रचनाओं में प्रगतिशील साहित्य का सही रूप दिखाई पड़ता है। उन्होंने एक ओर प्राचीन सामंती रूढ़ियों और मान्यताओं को ठुकराया, दूसरी ओर नव निर्माण का स्वर मुखर किया और साथ ही साथ जन-जीवन की दशा का सही चित्र अंकित करने की चेष्टा की। अभिव्यक्ति के पक्ष में भी उन्होंने अपने पूर्व संस्कारों से अद्भुत संघर्ष किया और सरल से सरल भाषा में लिखने की कोशिश की। उन्होंने छायावादी अलंकारों और सूक्ष्म काल्पनिक चित्र-विधानों की अपेक्षा जन-मन तक भावों को सहज ढंग से ढोने वाली वाणी को प्यार किया—

तुम वहन कर सको जन-मन में मेरे विचार
वाणी मेरी चाहिए तुम्हें क्या अलंकार ?

पंत जी ने भावात्मक विद्रोह की बात न कर ठोस बौद्धिक आधार पर मार्क्सवाद की मान्यताओं को स्वर दिया। मार्क्सवादी भौतिकवाद पदार्थ से चेतना की उत्पत्ति और विकास मानता है। चेतना को भौतिक परिस्थितियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता—

कहता भौतिकवाद वस्तु जग का कर तत्वान्वेषण
भौतिक भव ही एक मात्र मानव का अन्तरदर्पण
स्थूल सत्य आधार सूक्ष्म आधेय, हमारा जो मन
बाह्य विवर्तन से होता युगपत् अन्तर परिवर्तन।

पंत जी के ही शब्दों में नवीन भौतिकवाद (मार्क्सवाद) दर्शन और विज्ञान, मानव-सभ्यता के अन्तर्बाह्य विकास का ऐतिहासिक समन्वय है—

दर्शन युग का अंत, अंत विज्ञानों का संघर्षण
अब दर्शन विज्ञान सत्य का करता भव्य निरूपण

पंत जी ने इस बात को गहराई से समझा है कि ध्वंस सृजन के लिए अनिवार्य है और सृजन के लिए ही ध्वंस की सार्थकता है—

आओ हे दुर्धर्षवर्ष, लाओ विनाश के साथ नव-सृजन
विंश शताब्दी का महान विज्ञान ज्ञान ले उत्तर यौवन

प्रगतिवाद मनुष्य के सांस्कृतिक प्रयत्नों, उसके मन की छवियों और चेतना-सत्ताओं को नकारता नहीं है बल्कि उन्हें बहुत महत्व देता है। भौतिक और सामाजिक स्थितियों के पतन काल में उच्चकोटि की संस्कृति निर्मित नहीं हो सकती। प्रगतिवाद अत्यन्त उच्च कोटि की संस्कृति और मानव-चेतना की छवि की प्रतिष्ठा के लिए प्रयत्न में विश्वास करता है—

अन्तर्मुख अद्वैत पड़ा था युग-युग से निष्क्रिय निष्प्राण
जग में उसे प्रतिष्ठित करने दिया साम्य ने वस्तु-विधान

प्रगतिवाद ने कविता के लिए जीवन का अपार क्षेत्र मुक्त किया, उसकी दृष्टि आकाश में ताकने के स्थान पर धरती की रंग-बिरंगी शोभा, शक्ति और स्वर को निरखने लगी। आकाश में ताकने वाले लोगों से कवि कहता है :

ताक रहे हो गगन ? मृत्यु नीलिमा गगन :
निस्पन्द शून्य, निर्जन, निःस्वन
देखो भू को, स्वर्गिक भू को।
मानव पुष्प प्रसू को।'

पंत जी ने ग्राम्या में गांव की गरीबी, रीति-रिवाज, नृत्य-गान, सुषमा और दुर्भाग्य सभी का चित्र खींचा है। 'युगान्त' युगवाणी' और 'ग्राम्या' पंतजी की तीन काव्य पुस्तकें हैं जिनमें कवि का प्रगतिवादी स्वर ध्वनित हुआ है। किन्तु कवि की प्रगतिशील कविताओं की सीमायें भी बहुत स्पष्ट हैं। पंतजी ने प्रगतिवाद को समझा और उसे भरसक रूप देने का प्रयत्न किया किन्तु वे उच्च कोटि के प्रगतिवादी कवि न बन सके। उनकी प्रगतिवादी कविताओं की दो कोटियां हैं। एक में उन्होंने मार्क्सवादी सिद्धान्तों को पद्यबद्ध-सा किया है, दूसरे में जनजीवन के चित्र दिये हैं। यह स्पष्ट है कि किसी सिद्धांत को पद्यबद्ध कर देने से कविता नहीं बनती। दूसरी कोटि की कविताओं में जीवन और जगत का चित्र देने का प्रयत्न है। प्रयत्न इसलिए कह रहा हूँ कि जनजीवन के साथ तादात्म्य न होने से कवि ने जीवन के सत्यों को दूर से या सिद्धांत की दृष्टि से अनासक्त भाव से देखा है। इसलिए कवि के चित्रों में गहरी संवेदना और मार्मिक छवियों का अभाव है, उनमें बौद्धिक संवेदना अवश्य है अनुभूति-जन्य दर्द नहीं है। भाषा उनकी अपेक्षाकृत सरल अवश्य है किन्तु शैली और छन्द पुराने ही रहे।

छायावादी कवियों में पंत के अतिरिक्त निराला जी ने इस दिशा में स्तुत्य प्रयास किये। निराला जी ने पंत जी की तरह न तो मार्क्सवादी दृष्टि

का व्याख्यान किया और न बहुत विस्तार से सामान्य जनता का चित्र ही खींचा। उन्होंने व्यंग्यात्मक स्वर में 'कुकुरमुत्ता', 'खजोहरा', 'गर्म पकौड़ी', 'मंहगू मँहगा ही रहा', 'डिप्टी साहब आये' आदि कविताएँ लिखीं। इन कविताओं में कहीं-कहीं छोटे व्यक्ति का दंभ लक्षित होता है, कहीं-कहीं सामान्य जनों के प्रति हलकी-हलकी करुणा दिखाई पड़ती है। इन व्यंग्यात्मक कविताओं के अतिरिक्त 'अणिमा', 'नये पत्ते' में कुछ ऐसे चित्र दिखाई पड़ते हैं जिनमें साधारण जनता का जीवन और उनकी परिस्थितियां अङ्कित हैं। ये चित्र पंत जी के चित्रों की अपेक्षा अधिक यथार्थ और मर्मस्पर्शी हैं। निराला जी की संवेदना शुरू ही से कुछ ऐसी व्यापक और दृष्टि प्रसारगामी रही है कि वैयक्तिक अनुभूतियों से भरी मर्मस्पर्शी छायावादी कविताएँ लिखने के अतिरिक्त उन्होंने सहज ही समाज से कुछ दीन-हीन, पीड़ित प्राणियों को काव्य का विषय बना लिया। 'वह आता', 'वह तोड़ती पत्थर', 'विधवा' आदि कवितायें इस बात का प्रमाण हैं। निराला जी की प्रगतिशील कही जाने वाली कविताओं की भाषा शैली और छन्द-विधान अधिक सहज और व्यावहारिक है।

यह प्रगतिशील आन्दोलन की शुरूआत थी। धीरे-धीरे प्रगतिशील साहित्य का स्वरूप निखरता गया और उसका क्षेत्र विस्तृत होता गया। प्रचारवादी साहित्य (जिसमें मार्क्सवादी सिद्धान्तों, रूस, लाल सेना और जनजीवन के प्रति अनुभवहीन झुकाव, विद्रोह आदि का नारा बुलन्द किया जा रहा था और जिसके कारण प्रगतिवाद पर विदेशीपन का प्रभाव भी देखा जाता है) के बावजूद प्रगतिवादी साहित्य ने अपने समाज और देश की जनता की चतुर्दिक परिस्थितियों और मानसिक स्तरों को ग्रहण किया है। मूलतः उसका वर्ण्य विषय अपना समाज ही है। प्रगतिवादी काव्य पंत निराला की कविताओं से फूट कर धीरे-धीरे समाज के विविध पक्षों को अपनी धारा में समेटता गया। द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् भारतीय समाज में अनेक प्रश्न और समस्यायें उठीं। महायुद्ध के पश्चात् समाज में अनेक प्रकार की विशृंखलतायें और विघटन उत्पन्न हुए। अकाल का दौर शुरू हुआ। चोर बाजारी, घूसखोरी का बोलबाला हुआ। विवशता और भुखमरी के कारण त्राहि-त्राहि मच गई। राजनैतिक क्षेत्र में स्वदेशी आन्दोलन चल रहा था। साम्राज्यवाद के विरुद्ध प्रजातान्त्रिक स्वर उठ रहे थे। एशिया के सभी छोटे-बड़े देश पश्चिमी उपनिवेशवाद का जुआ कंधे से उतार फेंकने के लिए

आन्दोलन मचा रहे थे। रूसी साम्यवादी राज्य-व्यवस्था पीड़ित और शोषित देशों की आंखों में भविष्य का सपना बन रही थी। विदेश में मुसोलिनी और हिटलर जैसे खूंखार लुटेरे पराजित होकर नई मानवता के मार्ग से उठ चुके थे। अपने देश में स्वदेशी आन्दोलन के रूप में एक नयी समस्या जोर पकड़ रही थी—वह थी हिन्दू-मुसलिम समस्या। अंग्रेज़ी सरकार धर्म के नाम पर इन दोनों सम्प्रदायों को लड़ा रही थी और देश के बटवारे का प्रश्न उठ खड़ा हुआ था। प्रगतिवाद क्रमशः विकसित होकर इन अनेक सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियों से प्रभावित होकर उन्हें स्वर दे रहा था। वह पूर्णरूप से जनता का पक्ष लेकर मानवता के गीत गा रहा था, इन वास्तविकताओं को स्वर देने के लिए कई कवि आगे आये—उनमें रामविलास शर्मा, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल, नरेन्द्र शर्मा, रांगेय राघव, शिवमंगलसिंह 'सुमन', मुक्तिबोध, भारतभूषण अग्रवाल, त्रिलोचन मुख्य हैं।

प्रगतिशील कवियों ने यह महसूस किया कि मानवता का सम्पूर्ण क्षेत्र प्रगतिशील कविता का विषय हो सकता है। प्रेम की उपेक्षा जीवन की उपेक्षा है। प्रेम के बिना जीवन कहां ? मनुष्य अपनी मजबूरियों में भी प्रेम करता है। प्रगतिवादियों ने प्रेम की संवेदना को परिवार और समाज की अनेक बेबसियों के बीच उभारा, अर्थात् प्रेम अपने परिवेश और संदर्भ से जुड़ कर उभरा इसलिए अधिक जीवंत मालूम पड़ा। नागार्जुन की प्रेम सम्बन्धी कवितायें इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। आगे चल कर प्रगतिवादी कवि तीखी व्यक्तिगत संवेदनाओं (आवेश में जिनकी उसने पहले उपेक्षा की थी) को भी स्वर देने लगा किन्तु व्यक्तिगत संवेदनाओं के क्षेत्र में उसमें और प्रयोगवादी में एक मुख्य अन्तर लक्षित होता है। प्रगतिवादी की व्यक्तिवादी पीड़ा सामाजिक पीड़ा की प्रतीक होती है उसका व्यक्तिगत उल्लास सामाजिक उल्लास का अङ्ग होता है, वह तीव्र से तीव्र पीड़ा में भी जीवन के प्रति आस्था बनाये रखता है। प्रयोगवाद की व्यक्तिगत पीड़ा समाज-विच्छिन्न होती है, उसके मूल में व्यक्ति की कुंठा होती है समाज की कुंठा नहीं।

प्रगतिवाद ने प्रकृति के क्षेत्र में बिखरे असीम जीवन-उत्साह को देखा। उसे प्राकृति का एकांत रूप नहीं, जन-संकुल रूप पसंद आया। गांव, खेत, खलिहान, विविध मौसम, नदी, नाले, आसपास के परिचित पेड़ पौधे-प्रगति-काव्य के उपकरण हुए। प्रगतिवादी कवि दूर किसी काल्पनिक वन्य छवि में

नहीं भटकता, वह अपने गांव या नगर के बीच और आसपास फैले हुए जाने-पहचाने प्राकृतिक सौन्दर्य और उसके माध्यम से सामाजिक जीवन के हर्ष-विषाद को चित्रित करता है।

केदारनाथ अग्रवाल

ये प्रगतिवादी कवियों में सबसे सशक्त और सौन्दर्यवादी कवि हैं, इन्होंने उद्बोधनात्मक कविताएं भी काफी लिखी हैं किन्तु उच्च कोटि की कविताओं की भी कमी इनके यहाँ नहीं है। इनकी आरंभिक कविताओं (नींद के बादल की कविताओं) पर छायावाद की रूमानियत का काफी प्रभाव है किन्तु'युग की गंगा'की कविताएं मूलतः प्रगतिवादी हैं। इसमें मुख्यतः ऐसी कविताएं हैं जो बिम्बों के माध्यम से जीवन की विषमता को, आभिजात्य की विसंगति और जन-सामान्य की गरीबी, संघर्ष और वेदना को उभारती हैं। जनजीवन से जुड़कर कवि आस्थावान हो उठता है। केदार की कविताओं में मानव और प्रकृति के सौन्दर्य का बड़ा सहज, वेगवान और उन्मुक्त रूप मिलता है। केदार की कविताओं में क्रमशः प्रगतिवाद की आन्तरिक शक्तियाँ उभरती गई और दलीय आग्रह, स्थूलता तथा आक्रोश कम होता गया। उनकी इधर की कविताओं को नई कविता में आसानी से सम्मिलित किया जा सकता है। 'माझी न बजाओ वंशी,' 'वसंती हवा' आदि कविताएं (जो 'फूल नहीं रंग बोलते हैं' में संगृहीत हैं) केदार की प्रगतिकालीन सहज सौन्दर्यवादी कविताओं के रूप में देखी जा सकती हैं। केदार की कुछ छोटी छोटी कविताओं का अपना सौन्दर्य है। प्रकृति के अछूते सौन्दर्य को सहज लोकविम्बों के माध्यम से केदार इस तरह उजागर कर देते हैं कि एक तीव्र प्रभाव मूर्त हो उठता है। इन प्रकृति-छवियों को वे जीवन-संदर्भ में ही देखते हैं इसलिए बड़ी या छोटी सभी कविताओं में प्रकृति का सौन्दर्य एकान्त सौन्दर्य न होकर सामाजिक जीवन का सौन्दर्य होता है जिसे सामाजिक सौन्दर्य-बोध-सम्पन्न दृष्टि ही देख सकती है। जहाँ बहुत से कवि प्रकृति के महीन सौन्दर्य को उभारने के लिए महीन पच्चीकारी करते हैं, वहाँ केदार उसे अनायास ही हमारे संवेदनों के लिए सुलभ बना देते हैं लगता है जैसे एक फूल खिल गया है, एक हवा बह गयी है, एक समुद्र जाग उठा है एक जीवन चारों ओर है।

रामविलास शर्मा

रामविलास शर्मा की कविताओं का सौन्दर्य है सादगी, वेग और सहजता। शर्मा जी में प्रचार और नारा की कमी नहीं, स्थूल व्यंग्यों की भी अधिकता है। किन्तु जहाँ वे अतिवादिताओं से मुक्त होकर कवि के रूप में शेष रह जाते हैं वहाँ वे बहुत प्रभावित करते हैं। सामाजिक संवेदना को आत्मसात करके बहुत सरल वेगवान भाषा में उसे अभिव्यक्त करते हैं। उनकी भाषा जनभाषा की सारी भंगिमा, शक्ति और प्रवाह से संवलित होती है।

नागार्जुन

नागार्जुन की कविताएँ मुख्यतः तीन तरह की हैं। कुछ कविताएँ गम्भीर संवेदनात्मक और कलात्मक हैं जिनमें कवि ने मानव-मन की रागात्मक और सौन्दर्यमयी छवियों को अङ्कित किया है, और साथ ही साथ मनुष्य की मानवीय सम्भावनाओं के प्रति आस्था व्यक्त की है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं जो सामाजिक कुरूपता, राजनैतिक अव्यवस्था और धार्मिक अन्धविश्वास पर बढ़िया चुभता हुआ व्यंग्य करती हैं। तीसरी कोटि की रचनाएँ उद्‌बोधनात्मक हैं जो कि हलकी हैं। 'बादल को घिरते देखा है' 'पाषाणी' 'चन्दना' 'रवीन्द्र के प्रति', 'सिन्दूर तिलकित भाल' 'तुम्हारी दंतुरित मुसकान' आदि कविताएँ इनकी उत्तम प्रगतिवादी कविताएँ हैं।

शिवमंगलसिंह 'सुमन'

सुमन की भी दो तरह की कवितायें दिखाई पड़ती हैं। एक तो वे जो गीत हैं या छोटी-छोटी सुगठित कविताएँ हैं। दूसरी वे जो अधिक लम्बी और उपदेशात्मक हैं। उनके गीतों में प्रेम और प्रकृति की सफल व्यंजना है। उनकी लम्बी कविताओं में जन-जागरण का कोई न कोई ज्वलंत पक्ष वर्णित होता है या उनमें सामाजिक अभाव के चित्रण के साथ क्रांति की गर्जना होती है। उनकी छोटी-छोटी कविताएँ और गीत जहां कला और प्रभाव की दृष्टि से उत्तम दीखते हैं वहां बड़ी-बड़ी कविताएँ अधिक स्थान घेरती हैं और उनका प्रभाव बिखर जाता है क्योंकि वे ध्वन्यात्मक और चित्रात्मक न होकर इतिवृत्तात्मक होती हैं। 'एशिया जाग उठा है', 'जल रहे हैं दीप जलती है जवानी' जैसी लम्बी कविताएँ उदाहरणार्थ देखी जा सकती हैं। सुमन की जनवादी आवाज़ उनके जन-जीवन के अनुभव के अभाव में आवाज़ बन कर ही रह जाती है और सौन्दर्यमूलक गीत और लघु चित्र उनके अनुभव से जुड़े होने के नाते प्रभावशाली हो जाते हैं।

त्रिलोचन

त्रिलोचन बड़े ही सशक्त कवि हैं। इनकी कविताओं में बड़ी सादगी है और हर कविता में धरती की सोंधी गन्ध मिलती है। कविताएँ आकार में छोटी और प्रभाव में तीव्र होती हैं। त्रिलोचन ने संघर्ष किया है इसलिए इनकी कविताओं में दैन्य, अभाव और संघर्षों का सही चित्र प्राप्त होता है तथा संघर्ष-जन्य अटूट विजय-भाव तथा शक्ति से इनकी कवितायें ओत-प्रोत होती हैं। त्रिलोचन ने सदैव मनुष्य के रागात्मक पक्ष पर ध्यान रखा है। इनकी कविताओं में न व्यर्थ की भरती है और न सस्ता उद्‌बोधन। कहीं-कहीं ये बौद्धिकता के आधिक्य या संवेदना की क्षीणता के कारण रूखी और वेगहीन अवश्य हो गई हैं।

मुक्तिबोध

ये अपने विश्वासों और संवेदनाओं से जनवादी हैं। प्रगतिशील कविता के अन्तर्गत इनकी कवितायें आसानी से रखी जा सकती हैं किन्तु कुल मिलाकर इन्हें नयी कविता के अन्तर्गत रखना और विवेचना करना समीचीन होगा।

अज्ञेय, भारतभूषण अग्रवाल, भवानीप्रसाद मिश्र, नरेश मेहता, शमशेर बहादुरसिंह, धर्मवीर भारती में भी प्रगतिवाद किसी न किसी रूप में है किन्तु मूलतः इन्हें प्रगतिवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता।

६

प्रयोगवाद और नयी कविता

९. प्रयोगवाद और नयी कविता

प्रयोगवाद

प्रयोग तो प्रत्येक युग में होते आये हैं किन्तु प्रयोगवाद नाम उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया जो कुछ नये बोधों, संवेदनाओं तथा उन्हें प्रेषित करने वाले शिल्पगत चमत्कारों को लेकर शुरूशुरू में 'तारसप्तक' के माध्यम से सन् ४३ में प्रकाश जगत में आईं और जो प्रगतिशील कविताओं के साथ विकसित होती गईं तथा जिनका पर्यवसान नई कविता में हो गया।

प्रयोगवाद इन कविताओं के लिए परिहास में दिया गया नाम है। 'तार सप्तक' में संकलित कविताओं के माध्यम से होने वाले प्रयोगों की ओर संकेत किया गया था। इसी प्रयोग शब्द को पकड़ कर आलोचकों ने व्यंग्यात्मक लहजे में प्रयोगवाद नाम दे डाला। 'प्रयोगवाद' नाम भ्रामक है क्योंकि इस नाम से यह भाव टपकता है कि इन कवियों ने प्रयोग को साध्य मान कर एक नया वाद चला दिया। अज्ञेय जी ने 'दूसरा सप्तक' की भूमिका में कवि कर्म की व्याख्या करते हुए प्रयोग शब्द को स्पष्ट किया था। उनकी दृष्टि में प्रयोग अपने आप में इष्ट नहीं है वह साधन है, दोहरा साधन है। एक तो वह उस सत्य को जानने का साधन है जिसे कवि प्रेषित करता है, दूसरे वह उस प्रेषण क्रिया को और उसके साधनों को जानने का साधन है। फिर भी नाम चल पड़ा तो चल पड़ा।

अब प्रश्न यह उठता है कि वह इष्ट सत्य क्या है जिसके साधन के रूप में नये प्रयोग स्वीकारे गए हैं। 'तारसप्तक और 'प्रतीक पत्रिका को देखने से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि इनमें संगृहीत या प्रकाशित कवियों के अनुभव के क्षेत्र, दृष्टिकोण और कथ्य एक ही प्रकार के नहीं हैं: कुछ ऐसे हैं जो विचारों से समाजवादी हैं और संस्कारों से व्यक्तिवादी—जैसे शमशेर बहादुर सिंह, नरेश मेहता और नेमिचन्द्र जैन। कुछ ऐसे हैं जो विचारों और क्रियाओं दोनों से समाजवादी हैं—जैसे रामविलास शर्मा, गजान माधव, मुक्तिबोध और कुछ ऐसे हैं जो प्रगतिशील कविता के द्वारा व्यक्त होते हुए जीवन-मूल्यों और सामाजिक प्रश्नों को असत्य या सत्याभास मानकर अपने व्यक्तिगत जीवन में तड़पने वाली गहरी संवेदनाओं को ही रूपायित करना चाहते हैं। प्रायः ये

सभी कवि मध्य वर्ग के हैं। जिन कवियों ने समाजवादी विश्वासों को अपने संस्कारों में ढाल कर कविताएँ लिखी हैं वे वास्तव में जनवादी कवि हैं किन्तु जो ऐसा नहीं कर सके हैं या करना चाहते हैं वे अपने व्यक्तिगत सुखों, दुखों की संवेदनाओं को ही अपने काव्य का सत्य मान कर उन्हें नये नये माध्यमों द्वारा व्यक्त कर रहे हैं। आलोचकों ने प्रयोगवाद की चर्चा करते समय मूलत: इन्हीं कवियों को ध्यान में रखा है। यह ठीक भी है क्योंकि समाजवादी विश्वासों वाले कवि प्रगतिशील कविता के क्षेत्र में आ ही जाते हैं।

अत: प्रयोगवादी कविता ह्रासोन्मुख मध्य वर्गीय समाज के जीवन का चित्र है। प्रयोगवादी कवि ने जिस नये सत्य का शोध और प्रेषण करने के माध्यम की नयी नयी खोज की घोषणा की थी वह सत्य इसी मध्य वर्गीय समाज के व्यक्ति का सत्य था। प्रगतिशील कविता ने शोषित किसानों और मजदूरों के जीवन-सत्यों को उद्घाटित किया। इनके जीवन-व्यापारों के केन्द्र में आर्थिक संकट को देखा। किसानों और मजदूरों के मूल में आर्थिक लाचारी है यह सत्य है किन्तु आर्थिक लाचारी को देखने का आग्रह अपनी अतिवादिता में कहीं कहीं यांत्रिक हो गया और समूह का स्वर इस तरह ऊंचा किया गया कि किसान या मजदूर व्यक्ति न रह कर समूह की यांत्रिक इकाई बन गया। प्रगतिवाद की अभिव्यक्ति प्रणाली भी अत्यधिक व्यावहारिक और सीधी थी कहीं कहीं बिलकुल सपाट भी। इस आन्दोलन में मध्यवर्गीय समाज के जीवन प्रश्नों और व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक सत्यों का अभिव्यंजन छूट गया या बड़े सपाट और गलत रूप से प्रस्तुत किया गया। इन मध्यवर्गीय व्यक्तिवादी कवियों ने यह भी अनुभव किया कि अनेक प्रगतिशील कवि संस्कारों से व्यक्तिवादी और मध्यवर्गीय होने के नाते जनवादी कविताएं लिख नहीं पाते। जब लिखते हैं तो कविताएं कविताएं न रह कर समाजवादी सिद्धान्तों का शुष्क रूपांतर या जन जीवन के प्रति कोरी सहानुभूति बन कर रह जाती हैं। अत: प्रश्न यह उठाया गया कि क्यों न हम उसी यथार्थ को अभिव्यक्ति दें जिसे हम भोगते हैं, अनुभव करते हैं अर्थात् जिसे हम आत्मसात कर लेते हैं। व्यापक जीवन की बड़ी बड़ी सैद्धान्तिक बातें, नैतिकता के बड़े बड़े फलसफे, ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में भले ही उपादेय हों वे कला के क्षेत्र में कलाकार के 'स्व' की आंच में तपे बिना न तो खप सकते हैं और न उपादेय ही हैं। प्रश्न यह नहीं कि हमने कला में जीवन के कितने व्यापक अंश को समेटा है, प्रश्न यह है कि हमने लिये हुए अंश को कितना जिया है, कितना

भोगा है, और कितनी ईमानदारी और सच्चाई के साथ व्यक्त किया है। प्रयोगवादी कवि इसीलिए व्यापक जन-जीवन के अंकन के फेर में न पड़ कर अपने जिये हुए जीवन के ही विभिन्न दर्दों को अंकित करना पसंद करते हैं। प्रगतिवादियों ने यह अवश्य कहा कि जन-जीवन के संघर्षों को अभिव्यक्त करने के लिए कवियों को वह जीवन भोगना चाहिए अर्थात् खुल कर संघर्ष में भाग लेना चाहिए तभी वे जन-जीवन के संघर्षों को ईमानदारी से प्रस्तुत कर सकते हैं। मध्यवर्गीय कवियों को चाहिए कि वे अपने व्यक्तिवादी संस्कार क्रमशः सामाजिक संस्कारों की सीमा तक खींच ले जायें। यह बात सिद्धांत रूप से सही है किन्तु इसे व्यावहारिक रूप दे पाना इतना आसान नहीं है। इसीलिए अनेक प्रगतिशील कवियों की जनवादी कविताओं में अनावश्यक स्फीति अधिक है अपेक्षित गहराई कम। इसके विपरीत प्रयोगवादी कविताओं की सीमित व्यक्तिगत अनुभूतियां अपने समस्त वेग और ईमानदारी से व्यक्त होने के नाते अधिक तीव्र और कलात्मक हैं। यह कह देना आवश्यक है कि प्रयोगवादी कविताओं में भी नकली और घटिया कोटि की कविताओं का अभाव नहीं है फिर भी सामान्यतः उनमें कवि का आत्मभुक्त दर्द ईमानदारी से ध्वनित हुआ है। यह बात दूसरी है कि उनके व्यक्तिगत दुखदर्द अपने ही में घुट घुट कर विकृत हो जाने के कारण बहुत दूर तक ताजगी का निर्वाह कर सकने में समर्थ नहीं हुए हैं।

मध्यवर्गीय कवियों ने व्यक्ति-मन के सत्यों को ही उद्घाटित करने में नये सत्यों को प्रतीति और उनका सम्प्रेषण समझा। मध्यवर्ग आज ह्रासोन्मुख है। वह अपने चारों ओर के कठोर परिवेश के दबाव से टूट रहा है। उसकी आकांक्षाएं विराट हैं, सपने रंगीन हैं, संवेदनाएं कोमल हैं। वह उच्चवर्गीय समाज की समकक्षता में अपने को पाने का आकांक्षी है परन्तु उसकी कमजोर आर्थिक भूमि और रूढ़ मिथ्या आदर्शवादिता उसकी राह रोक कर खड़ी है। वह समाज में उच्च स्थान पाने के लिए अनेक ढोंग रचता है फिर भी उसे सम्मान नहीं मिलता। वह अपने चारों ओर खड़ी कठोर सामाजिक बन्धनों और आर्थिक वैषम्य की अभेद्य दीवारों से टकरा कर अपने में लौट आता है और अपने को समाज से कटा हुआ, हारा हुआ, खंडित और कुंठित समझने लगता है, पीड़ा के अनेक स्तरों से उलझी हुई संवेदनाओं को मन का गहरा यथार्थ मान बैठता है। यह मध्यवर्गीय व्यक्ति या कवि जन-जीवन के सामूहिक जागरण से असंपृक्त रहने के कारण अपनी सीमाओं को

तोड़ने का कोई सक्रिय प्रयास न करके स्व की गुफा में पीड़ा के मणि खोजता रहता है। इस प्रकार वह जन जीवन के प्रवाह से कट कर उसी के बीच नदी के द्वीप की तरह अपनी इकाई में अवस्थित रहता है। प्रायः सभी प्रयोगवादी कवियों में यह स्थिति देखी जा सकती है। यह पीड़ा-बोध इन कवियों में इतना गहरा और सजग है कि वे उसे दार्शनिक स्तर पर एक चिरंतन सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं :

दुःख सबको माजता है
और
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने, किन्तु
जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

—'अज्ञेय'

ये कवि प्रगतिवादियों की तरह अपने व्यक्तित्व को सामूहिकता में विसर्जित नहीं करते बल्कि उस धारा से स्पृष्ट होकर भी अपनी इयत्ता बनाये हुए हैं। इनका कहना है कि अपनी इयत्ता खोकर सामूहिकता की धारा में विलीन हो जाने वाला व्यक्ति स्वयं तो कुछ नहीं ही प्राप्त करेगा, सामूहिकता की धारा को भी गंदला करेगा।

स्वप्नकल्पी प्रयोगवादी कवियों ने अपने परिवेश को अनुकूल बनाना चाहा है किन्तु चाहने मात्र से क्या होता है? उसक लिए तो सामाजिक प्रयास अपेक्षित है। अतः ये कवि अपने परिवेश से आहत होकर बार बार अनुभव करते हैं :

मेरी भुजाएं टूट गयी हैं
क्योंकि मैंने उनकी परिधि में
मेघों को बांध लेना चाहा था

—'अज्ञेय'

धीरे धीरे वे अपने को अत्यन्त हीन समझने लगते हैं। उनका आरम्भिक दंभ पदाक्रांत कुत्ते की तरह रिरियाने लगता है। उनकी हर आस्था तिनके की तरह टूटने लगती है, उनके अन्तर के सारे विश्वास झूठे साबित होने लगते हैं।

प्रयोगवादी कवि यथार्थवादी हैं। वे भावुकता के स्थान पर ठोस बौद्धिकता को स्वीकार करते हैं। ये कवि मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की समस्त

जड़ता, कुंठा, अनास्था, पराजय, मानसिक संघर्ष क सत्य को बड़ी बौद्धिकता के साथ उद्घाटित करते हैं। छायावादी कवि भी व्यक्तिवादी थे किन्तु उनका व्यक्तिवाद सुन्दर आदर्शों, रंगीन कल्पनाओं और मनोहर भावुकता से रंजित था किन्तु प्रयोगवादी अपने सत्य को उसकी नंगी शक्ल में ही पेश करना चाहते हैं, यथार्थवाद का आग्रह उन्हें इस दिशा में प्रेरित करता है।

यों तो मध्यवर्गीय व्यक्ति-जीवन की पीड़ा के अनेक स्तर इन कविताओं में उभरे हैं किन्तु विशेषतया दमित काम वासना का ही प्राधान्य लक्षित होता है। इनकी काम संवेदना जितनी ही तीव्र है उतनी ही सामाजिक बन्धनों की सीमाएं कठोर। छायावादी कवियों या व्यक्तिवादी विचारकों द्वारा कल्पित स्वाधीनता के बावजूद नारी सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से स्वाधीन नहीं हो सकी और पुरुषों के बीच मुक्त भाव से नहीं आ सकी। अतएव तीव्र संवेदनाओं वाले मध्यवर्गीय कवि की यौनवासना उभर उभर कर कुंठित होती गई और कुंठित होकर दर्द बनती गई। छायावादी कवियों ने कल्पनालोक में नारी के साथ साहचर्य स्थापित कर अपनी प्यास मिटा ली किन्तु यथार्थ-आग्रही कवियों के लिए यह संभव नहीं था। उन्होंने कल्पना का रंगीन आवरण हटा कर दमित यौन वाससाओं के नग्न रूप को स्पष्ट कर दिया। फ्रायड का काम सिद्धांत इनके लिए प्रधान जीवन-दर्शन बन गया। इन कवियों ने कहीं स्पष्ट रूप से, कहीं बारीक प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से दमित काम वासनाओं और उलझी हुई संवेदनाओं को रूपायित किया। अज्ञेय, शमशेर, गिरिजाकुमार माथुर और भारती के नाम इस संदर्भ में लिये जा सकते हैं।

आह मेरा श्वास है उत्तप्त
धमनियों में उमड़ आयी है लहू की धार
प्यार है अभिशप्त
तुम कहां हो नारि !

—'अज्ञेय'

इन फीरोजी होठों पर बरबाद
मेरी जिन्दगी।
तुम्हारे स्पर्श की बादल-घुली कचनार नरमाई।
तुम्हारे वक्ष की जादूभरी मदहोश गरमाई।

तुम्हारी चितवनों में नरगिसों की पात शरमाई ।
किसी भी मोल पर मैं आज अपने को लुटा सकता
सिखाने को कहा मुझसे प्रणय के देवताओं ने
तुम्हें, आदिम गुनाहों का अजब सा इन्द्रधनुषी-स्वाद ।
मेरी जिन्दगी बरबाद

—भारती

मकई से लाल गेहुँए तलुए
मालिश से चिकने हैं
सूखी-भूरी झाड़ियों में व्यस्त
चलती-फिरती पिंडलियां
(मोटी डालें, जांघों से न अड़ें ।)
सूरज को आईना जैसे नदियाँ हैं—
इन मर्दाना रानों की चमक
'उन' को खूब पसंद····
....

या

—सुन्दर
उठाओ
निज वक्ष
और—कस···उभर ।
क्यारी
भरी गेंदा की
स्वर्णरिक्त
क्यारी भरी गेंदा की ।
तन पर
खिली सारी
अति सुन्दर । उठाओ ।

'शमशेर'

प्रयोगवाद ने कविता के क्षेत्र में एक सीमित जीवन को व्यक्त करते हुए भी काव्य के मूल्यांकन को एक नयी दिशा दी । उसने बृहत् या सामूहिक मानव

के स्थान पर व्यक्ति मानव (जिसे कुछ लोगों ने लघु मानव भी कहा है) की महत्ता स्थापित की। कविता व्यक्ति के माध्यम से फूटती है। कवि यंत्र न होकर अपने राग विराग से युक्त एक मानव होता है। उसक चित्त से फूटने वाली कविता उसके निजी संस्कारों, बोधों और दृष्टि का स्पर्श करती हुई निकलती है अतः वह मशीन से पैदा होने वाली कोई नपी तुली एक टाइप में ढली हुई वस्तु नहीं होती बल्कि कवि के मानस की अनेकानेक जटिलताओं से स्वरूप ग्रहण करती हुई निःसृत होती है। वह एक जीवित कला है। इसलिए कवि के निजीपन का तिरस्कार कर कविता का मूल्यांकन करना समीचीन नहीं। प्रयोगवादी कवियों ने अपने भोगे हुए दुःखों, दर्दों को व्यक्त कर अपने ही समान मध्य वर्ग के अन्य व्यक्तियों की संवेदनाओं को स्वर दिया।

प्रयोगवाद ने बड़ी बड़ी घटनाओं, बड़े बड़े संघर्षों, बड़े बड़े व्यक्तियों या समुदायों, बड़े बड़े जीवन-प्रसंगों के विशाल फलक पर इतिवृत्तात्मक काव्य का निर्माण नहीं किया, उसने व्यक्ति के अन्तर्संघर्षों, क्षणों की अनुभूतियों और सूक्ष्म से सूक्ष्म, छोटी से छोटी संवेदनाओं और मन की विभिन्न स्थितियों को लेकर छोटी छोटी तीव्र कविताएं लिखीं, फ्लैशेज दिये। कला में मूल प्रश्न विषय की महत्ता या लघुता का नहीं है मूल प्रश्न है उसे ईमानदारी के साथ जी कर व्यक्त करने का। सुख-दुख की संवेदनाओं को उभार कर चुपके से सरक जाने वाले छोटे छोटे क्षण, छोटी छोटी अनदेखी अनचाही घटनाएँ, छोटे छोटे प्रसंग बड़ी सच्चाई के साथ प्रयोगवादी कविता में अंकित होने शुरू हुए। लघु मानव को उसकी समस्त हीनता और महत्ता के संदर्भ में प्रस्तुत करके प्रयोगवादी कविता ने उसके प्रति सहानुभूतिमय दृष्टि से सोचने के लिए एक नया रास्ता खोला। आदमी अपनी सारी कमजोरियों, हीनताओं, लघुताओं और महत्ताओं के बीच यथार्थ है। अतः यथार्थ मानव की सृष्टि के लिए उसके जटिल परिवेश को अंकित करना कलाकार का धर्म है।

नयी कविता

नयी कविता भारतीय स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं को कहा गया, जिनमें परम्परागत कविता से आगे नये मूल्यों, नये भाव-बोधों और नये शिल्पविधान का अन्वेषण किया गया। यह अन्वेषण साहित्य में कोई नयी वस्तु नहीं है। अन्वेषण की प्रक्रिया हर युग के साहित्य में लक्षित होती है। ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देखें तो प्रायः सभी नये वाद या नयी-नयी

धाराएँ अपने पूर्ववर्ती वादों या धाराओं की तुलना में कुछ नवीन अन्वेषण की प्यास लिये दिखाई पड़ती हैं। यह साहित्य की नवीनता सदैव श्लाघ्य है, यदि वह अपना सम्बन्ध बदलते हुए सामाजिक जीवन के मूल सत्यों से बनाये रखे। नवीनता का आन्दोलन दो प्रकार का होता है—एक तो नवीन ऐतिहासिक सन्दर्भ से जुड़े हुए सामाजिक जीवन के बदले हुए मूल्यों, भावबोधों और सौन्दर्य-दृष्टियों को आकार दे सकने योग्य शिल्प की नवीन सम्भावनाओं और शक्तियों की खोज से सम्बद्ध होता है। दूसरा मात्र रूप के वस्तु-निरपेक्ष चमत्कारों के अनुसंधान से जुड़ा होता है। यह दूसरे प्रकार की नवीनता सामाजिक जीवन के नये सन्दर्भों और सत्यों की अभिव्यक्ति की अनिवार्यता से असंपृक्त होने के कारण, किसी भी समय कैसा भी रूप ले सकती है और ऐसे आन्दोलनों की नकल करने वाले लोग तो उसकी रही-सही छवि भी मटियामेट कर देते हैं। यह भी हो सकता है कि एक आन्दोलन किसी देश या समाज के ऐतिहासिक सत्यों से सम्बद्ध हो सकने के कारण अनिवार्यतः प्रेरित हो तो उसकी नकल दूसरे देश या समाज के दूसरे प्रकार के जीवन-सत्यों के बीच असत्य और कुरूप लगे। कहना न होगा कि हिन्दी की नयी कविता अपने समाज के ऐतिहासिक सत्यों से प्रेरित कविता है। इतना ही क्यों, हिन्दी साहित्य का पूर्ण इतिहास समय के विभिन्न परिप्रेक्ष्यों में बदलती हुई जीवन-चेतना को वाणी देने वाला इतिहास है। इसलिए हर आनेवाले काल का साहित्य अपने भीतर अनिवार्य रूप से परम्परा की सम्भावनाओं (प्रभाव कह लीजिए) तथा नवीनता-बोध को समेटे हुए है। इस सत्य से अपरिचित या किसी पूर्वग्रह से ग्रस्त आलोचक हर वाद या काल की नयी धारा में विदेशी प्रभाव देखने लगते हैं। नयी कविता पर भी विदेशी मुखापेक्षिता का आक्षेप जोर-शोर से लगाया गया, मानों फिर एक बार भक्ति काव्य, रीतिकाव्य, छायावादी काव्य, प्रगतिवादी काव्य पर लगाया गया आक्षेप दुहरा दिया गया।

नयी कविता का 'नयी' नाम भ्रामक है। कहा जा चुका है कि हर काल की या हर धारा की हिन्दी कविता पूर्ववर्ती कविताओं की तुलना में नयी होती आयी है। इस प्रकार नित नवता की एक परम्परा गतिमान रही है। फिर भी नयी कविता नाम स्वतंत्रता के बाद लिखी गयी उन कविताओं के लिए रूढ़ हो गया, जो अपनी वस्तु-छवि और रूप-छवि दोनों में पूर्ववर्ती प्रगतिवाद और प्रयोगवाद का विकास हो कर भी विशिष्ट हैं। नयी कविता की प्रवृत्तियों

की परीक्षा करने पर उसकी सब से पहली विशिष्टता दिखाई पड़ती है जीवन के प्रति उसकी आस्था। आस्था का अर्थ क्या है? क्या सामान्य जीवन की भूख, प्यास, दुख-दर्द आशाकांक्षा को उपेक्षित कर एक काल्पनिक जीवन का प्रक्षेपण? सृष्टि के अनन्त जीवित प्राणों के ऊपर कल्पना पुरुष की महत्ता की प्रतिष्ठा? जीवन के अनगनित संवेदनपूर्ण क्षणों की लहरों से आ लगने वाले किसी महत् और विशिष्ट घड़ी के मोती की प्रतीक्षा? हृदय के भीतर, अपनी वास्तविक आंच में तपते मनुष्य के ऊपर एक देवता की निस्पंद और अविचल मुस्कान की धवलता का आरोपण? नहीं, जीवन के प्रति आस्था के ये चमकीले किन्तु असत्य रूप हैं। जीवन के प्रति आस्था का अर्थ है जीवन के सम्पूर्ण उपभोग में अगाध विश्वास। जीवन के सम्पूर्ण उपभोग की सार्थकता वही समझ सकता है, जो जीवन को इसके समस्त पाप-पुण्य, गुण-दोष के सहित सत्य माने। आज की क्षणवादी और लघु-मानव वादी दृष्टि जीवन के मूल्यों के प्रति नकारात्मक नहीं, स्वीकारात्मक दृष्टि है। आज की नयी कविता में जीवन का पूर्ण स्वीकार करके उसे भोगने की लालसा है। जीवन पूरा-पूरा क्या है? क्या वह सचमुच एक संगठित इकाई है, जिसमें यहाँ से वहाँ तक एक सशक्त या अशक्त प्रकार की चेतना शृंखलित रूप से व्याप्त रहती है? इस एक प्रकार की चेतना से सम्पन्न व्यक्तित्वों के लिए दूसरे प्रकार की चेतना वहन करने वाले अवसर या प्रसंग निकम्मे होते हैं और उन्हें यों ही बीत दिया जाने दिया जाता है। इस प्रकार जीवन का अधिकांश भाग हमारे लिये व्यर्थता की कथा सिद्ध होता है, जिसे हम भोगे बगैर, जाने बगैर उपेक्षित कर देते हैं। स्पष्ट है कि यह सम्पूर्ण जीवन नहीं है। मनोविज्ञान द्वारा उद्घाटित सत्यों ने यह प्रमाणित किया है कि हम क्षणों में जीते हैं। जो व्यक्ति इन क्षणों को जितनी ही सच्चाई से अनुभूत बना कर जीएगा, वह उतना ही पूर्ण जीवन जीएगा। क्षणों की अनुभूतियाँ संपूर्ण जीवनानुभूति की बाधक नहीं, साधक है। क्षणों को सत्य मान लेने का अर्थ होता है जीवन की एक-एक अनुभूति को, एक-एक व्यथा को, एक-एक सुख को सत्य मान कर जीवन को सघन रूप से स्वीकार करना। लघु मानवत्व की जो बात नयी कविता में उठायी गयी है, उसे भी जीवन की पूर्णता के ही सन्दर्भ में देखना होगा। लघु मानव का अर्थ मेरी समझ में क्षुद्र मानव नहीं है, जो पाप या घृणा या असुन्दरता की मूर्ति हो। यानी नयी कविता पूर्ववर्ती कविताओं की सुन्दरतावादी या आदर्शवादी विचारधारा की

प्रतिक्रिया में मनुष्य के पाप, घृणा या असुन्दरता को सत्य के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहती है, ऐसी बात नहीं। लघु मानव का अर्थ है वह सामान्य मनुष्य जो अपनी सारी संवेदना, भूख-प्यास और मानसिक आंच को लिये दिये उपेक्षित था। इस लघु मानव का अर्थ यदि मनुष्य की लघुता को खोज-खोज कर सत्य रूप में उसकी प्रतिष्ठा करने से है तो निश्चय ही यह अतिवादी, प्रतिक्रियावादी और असत्य जीवन-दृष्टि है। स्वस्थ नयी कविता ने कभी भी इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया। लघु मानवत्व भी मानव के अनन्त उपेक्षित जीवन-संदर्भों और संवेदनाओं को विश्वास के साथ ग्रहण करने की प्रेरणा दे कर समाज जीवन की परिधि को विस्तृत और सघन बनाता है। आज का ही एक उदाहरण लें। चीनी आक्रमण के समय जो जागृति, सेवा-त्याग की भावना और जीवनोन्मेष जागा है, वह किसमें अधिक जागा है ? अपने जीवन भर की संचित कमाई अर्पित करने वाले एक चौकीदार, एक भिखारी, एक किसान में या पीतल के गहनों पर सोने की पन्नी चढ़ा कर दान देने वाले दानवीर सेठों में ? अपने बेटों, अपने पतियों को सीमा की रक्षा के लिए भेजने वाली असहाय बूढ़ी माताओं, पिताओं, बहुओं में या अपनी अथाह सम्पत्ति का एक टुकड़ा फेंकने वाले मुनाफाखोर व्यापारियों, मिल मालिकों और अपनी गरीबी का भंडाफोड़ करने वाले निजाम में ? कारखानों, युद्ध और खेतों के मोरचों पर मौन भाव से सेवाएँ करने वाले अनाम सैनिकों में या मंचों पर देश-सेवा का नारा लगाने वाले पद-लोलुप नेताओं में ? यह सत्य आज के कवि से घनिष्ठ भाव से परिचित हो गया है। अतः यदि वह नकली खोखले महत्व के स्थान पर वास्तविक लघु मानव की जीवन-संवेदना को रूपान्वित करता है तो प्रकारांतर से जीवन को सही ढंग से समझता है। यह लघु मानव या उससे सम्बद्ध जीवन संदर्भ जीवन की व्यापकताओं को अपने भीतर समेटे हुए है। जब नया कवि लघु या सामान्य की बात करता है तो वह किसी विशेष दर्शन से प्रभावित हो कर बात नहीं करता। यानी उसका लघुमानव किसी दर्शन, सम्प्रदाय, या राजनीतिक दल की दृष्टि से दिखाई पड़ने वाला मानव नहीं है, वल्कि कवि की सहज मानवीय संवेदना और आधुनिक यथार्थवादी (यथार्थवादी में यथार्थ के किसी एक सम्प्रदाय का सन्निवेश नहीं कर रहा हूँ, वरन् यथार्थ के समस्त विकसित आयामों को समाविष्ट कर रहा हूँ) दृष्टि से अपने सभी रूपों में दिखाई पड़ने वाला जीवित मनुष्य है जो किसी भी वर्ग का नहीं और उन सभी वर्गों का है जो जीवन के दर्दों के प्रति ईमानदार हैं, जो उधार

नहीं, अपना जीथन जीते है। कवि स्वयं अपने को भी उस रूप में देख सकता है। इसे समझने के लिए हम जरा पूर्ववर्ती काव्य पर दृष्टि डालें। आधुनिक युग का पूरा साहित्यिक प्रयास ही है आदर्श की ओर से यथार्थ की ओर आना। और जयशंकर प्रसाद के शब्दों में यथार्थवाद की सब से बड़ी विशेषता है लघुता की ओर दृष्टिपात। हम देखते हैं कि आधुनिक काल के आरम्भ से ही महत् या विशेष के रूढ़िगत घेरे से निकल कर जगत जीवन में फैली हुई तथाकथित अनन्त लघुताओं की ओर प्रसरित होने की चेष्टा हमारा साहित्य करता रहा है। साहित्य के क्षेत्र में अब तक जो वस्तुएँ, जो पात्र, जो अनुभूतियाँ अस्पृश्य और अकाव्यात्मक मानी जाती रहीं, उन्हीं में सौन्दर्य दिखाई पड़ने लगा। भारतेन्दु और उनके सहयोगियों तथा श्रीधर पाठक ने सामाजिक चेतना की ओर दृष्टि उन्मुख कर सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले दृश्यों, व्यापारों और प्रश्नों को लिया, बाढ़, भुखमरी, अकाल आदि जैसी काव्य के लिए लघु समझी जाने वाली वस्तुओं को काव्य का विषय बनाया। लोक-जीवन, जो सामन्ती सभ्यता में सब से उपेक्षित और लघु अंश माना जाता रहा, इस काल के साहित्यकारों का प्रेरणा-स्रोत बना। इस काल के कृतिकारों ने न केवल उपेक्षित लोक जीवन के प्रश्नों और दर्दों को अपनाया, बल्कि लोकजीवन में प्रचलित छन्दों, भाषा-मुहावरों आदि को भी स्वीकार किया। द्विवेदी काल की दृष्टि प्राचीन और नवीन दोनों ओर थी। यद्यपि मैथिलीशरण गुप्त और हरिऔध जैसे कवियों ने युगीन पुनरुत्थान वादी दृष्टि की प्रेरणा से प्राचीन काल की ख्यात कथाओं को अपनाया, किन्तु इन ख्यात कथाओं के भीतर भी इनकी दृष्टि उन पात्रों पर विशेष गयी, जिनके व्यक्तित्व की अकारण उपेक्षा हो गयी थी। यानी नायक-नयिका के व्यक्तित्वों पर बल देने के कारण आसपास के आकर्षक व्यक्तित्व, जो अपने मौन त्याग, सेवा, करुणा के कारण निश्चय ही अपने आप में बहुत महत्व रखते हैं, छूट गये थे या दब गये थे। उन्हें इस काल के कृतिकारों ने देखा और उनके व्यक्तित्व को प्रकाशित किया। उर्मिला इसी प्रकार की एक पात्र थी। दूसरी बात यह हुई कि सामंत काल में कुलीन नारियों को एक विशेष महत पैटर्न में देखा गया। यानी वे कोमलता, सुन्दरता की रानी हैं, वैभव की देवी हैं। यानी वे सर्वत्र असामान्य है-जीवन की कठोरता, अन्तर्द्वन्द्व, कर्मठता आदि से परे या तो आदर्श देवियाँ हैं, या सुकुमारता और सुन्दरता का अमित छवि-भार लिये भोगविलास की पुतलियाँ। उनमें सहज सामान्य जीवन की

विविधता लक्षित नहीं होती। द्विवेदी युग में नारी अपनी आदर्शवादिता के बावजूद नारी-जीवन के तीखे-मीठे विविध अनुभवों से संयुक्त और सामाजिक जीवन के सन्दर्भ में उत्पन्न चिन्ताओं से सम्पन्न व्यक्तित्व लेकर आयी। ऐसा नहीं लगता है कि नारी किसी बन्द घेरे में बैठी हुई वही देख-सुन रही है, जो उसे दिखाया-सुनाया जा रहा है। वह खुले क्षेत्र में उतरने की चेष्टा में है, जहाँ उसे अपने व्यक्तित्व और लोकजीवन-दोनों के खुले हुए क्षितिज नजर आ रहे हैं। उर्मिला, सीता यशोधरा, राधा इन सभी पात्रों को इस दृष्टि से देखा जा सकता है।

छायावाद ने यथार्थ का एक दूसरा आयाम उद्घाटित किया है। प्रकारान्तर से यह भी भावों की लघुता की ओर दृष्टिपात ही था। अब तक के काव्य में बाहरी विषयों को काव्य का वर्ण्य स्वीकार किया गया था। व्यक्ति या स्वयं कवि की निजी अनुभूतियां उपेक्षित-सी हो गयी थीं। बड़ा या अच्छा काव्य लिखने के लिए बड़े और अच्छे विषय का चुनाव अनिवार्य था। छायावाद ने दो प्रमुख कार्य किये। एक तो उसने बड़े या तथाकथित अच्छे विषयों का भेदभाव तोड़ दिया और छोटे से छोटे विषय या व्यापार में भी शक्ति देखने लगा, जो काव्य-सौन्दर्य पैदा कर सकता है। क्योंकि महत्व उस दिखाई पड़नेवाली वस्तु या व्यापार का नहीं है, महत्व है उसे देखने वाली दृष्टि का। यानी यदि हमारी दृष्टि में सूक्ष्म निरीक्षण की, अन्तरव्यापी सत्य या छवि को पकड़ पानेवाली शक्ति है तो वह अनेक अनदेखी उपेक्षित वस्तुओं में सौन्दर्य देख लेगी। स्थूल दृष्टि तो महत्वपूर्ण माने गये विषयों की सतह पर घूमती रहेगी।

दूसरी बात यह हुई कि छायावाद ने व्यक्ति की या कवि की निजी अनुभूतियों के प्रकाशन पर जोर दिया। काव्य-वर्ण्य बाहर ही नहीं है, मन के भीतर भी है। कवि की प्रत्येक अनुभूति कविता का विषय है। अनुभूति छोटी-बड़ी नहीं होती, अनुभूति अनुभूति होती है। अनुभूति कोई शास्त्र-निर्देशित या परिपाटी-अनुगामी वस्तु नहीं, वह व्यक्तित्व द्वारा भोगे गये सत्य की प्रतीति है। और कवि जीवन में अनेक प्रकार की अनुभूतियां प्राप्त करता है। वे सभी प्रकाशित होने योग्य हैं, यदि उनमें सच्चाई है। अतः ये कवि, किसी विषय की आड़ न लेकर गीतों में सीधे-सीधे अपने विरह-मिलन की अनुभूतियां, सौन्दर्य की प्रतीतियां व्यक्त करने लगे, प्रकृति-सौन्दर्य के सूक्ष्म बोधों को रूपायित करने लगे। कवि का और कवि के माध्यम से व्यक्ति का

सहज मानवीय संवेग से छटपटाता व्यक्तित्व प्रकाश पाने लगा। छायावाद ने व्यक्तित्व को मुक्त तो किया, किन्तु इस व्यक्तित्व में विविधता और लोक-जीवन की शक्तिमत्ता का अभाव था। व्यक्तित्व का मधुर, कोमल, सुन्दर पक्ष ही विशेष रूप से उद्‌घाटित हुआ। यह अवश्य था कि कोमलता, सुन्दरता या प्रेममूलक उल्लास और दर्द नवीन मानवीय छवि (कृत्रिम भेद-भाव मुक्त स्वच्छंदता) से सम्पन्न था। निराला जैसे कवि ने अपने ओजस्वी और सामाजिक चेतना से पूर्ण व्यक्तित्व के नाते समाज के उपेक्षित, पीड़ित व्यक्तित्वों को वाणी दी और रूढियों, असामाजिक, अमानवीय शोषक तत्वों के विरुद्ध स्वर ऊँचा किया। किन्तु यह कवि की संवेदना का सहज उभार था इसके पीछे कोई जीवन-दृष्टि नहीं थी।

प्रगतिवाद ने छायावाद से छूटे हुए सत्यों को अपनाया। उसने समाज के कोटि कोटि दीन, हीन, पीड़ित, शोषित इन्सानों की ओर दृष्टि फेरी, लघुता की ओर दृष्टिपात किया। उनके जीवन की सारी पीड़ाओं को शोषण से उत्पन्न आर्थिक अभाव के सन्दर्भ में देखा। इन कोटि-कोटि उपेक्षित, अनगढ़, असुन्दर, असंस्कृत परन्तु कर्मरत, विश्वासमय, जीवन-शिल्पी लोगों को, उनकी झोंपड़ियों को, उनके खेतों को, उनकी सुबहों को, शामों को, रातों को, कलकारखानों को, भूख से बिलबिलाते उनके बच्चों को, बीवियों को देखा और यह देखना निराला की तरह मात्र संवेदना की उपज नहीं था, वरन् इसके पीछे एक सुगठित जीवन-दर्शन, (मार्क्सवादी दर्शन) कार्य कर रहा था। व्यक्तिगत रूप से इन सामाकि दुःखों, दर्दों से आन्दोलित होना ही जरूरी नहीं था, बल्कि एक बौद्धिक स्तर पर सामाजिक संबन्धों, बूर्ज्वा संस्कृति के खोखलेपन और निर्जीवता, सर्वहारा वर्ग की व्यथा और शक्ति को समझना और पूँजीवादी जीवन-दर्शन, अभिजात संस्कृति के विनाश और नवीन समाज व्यवस्था के आधार पर नवीन श्रमवादी संस्कृति, सभ्यता,मूल्यों के निर्माण के लिए उठने वाले समाजवादी आन्दोलन से सम्बद्धहोना आवश्यक था। यह भी इतिहास का एक नया आयाम था,। किन्तु इस दर्शन ने व्यक्तित्व की उपेक्षा कर दी। व्यक्ति समूह की एक यांत्रिक इकाई बन गया। इस प्रवाह ने व्यक्ति को वहीं तक स्वीकार किया, जहाँ तक वह सामाजिक जीवन का प्रतीक दिखाई पड़ा। व्यक्ति और विशेषकर मध्यवर्गीय व्यक्ति अपनी समस्त निजता और मनोवैज्ञानिक सत्यों के साथ एक तरह से उपेक्षित हो गया। व्यक्ति के भीतर की उलझी हुई संवेदनाओं, मनोमंथन और उसकी निजी

अनुभूतियों के गहन स्तरों के उद्घाटन के लिए प्रगतिवाद में अवकाश नहीं रह गया था।

प्रयोगवाद ने व्यक्ति के मन में यथार्थ के गहन स्तरों को खोलने का प्रयत्न किया। प्रयोगवाद ने दो प्रमुख कार्य किये—एक तो व्यक्ति के मन की उलझी हुई संवेदनाओं और अचेतन मन के सत्यों को आज के युग का सत्य मानकर उन्हें उद्घाटित करने की चेष्टा की। दूसरे में उसने इन मनः-सत्यों कों प्रकाशित कर सकने योग्य नये शिल्प का अन्वेषण किया। प्रगतिवाद की उद्बोधनात्मक शैली, इतिवृत्तात्मक शैली, सरल प्रवाहमायी शैली, स्फीतियुक्त शैली प्रगतिवादी काव्य के और उसके उद्देश्य के अनुकूल थी। इस शैली की अपनी सुन्दरताएँ (जहां कवि सचमुच काव्य धर्मी हो गया है) और असुन्दरताएँ (जहाँ कवि काव्य की सांकेतिकता और बिम्ब धर्मिता को छोड़कर उद्बोधक या भाष्यकार या सिद्धान्त-निरूपक हो गया है) थीं। प्रयोगवाद ने मध्यवर्गीय व्यक्ति-मन की उलझी संवेदनाओं को अपना कथ्य बनाया। अतः उन्हें रूपायित कर सकने योग्य नये चमत्कारों की, नयी शिल्प-शक्ति की खोज करनी पड़ी। कवि ने ऐसे नये प्रतीकों, बिम्बों और उपमानों की खोज की, जो व्यक्ति मन के अनेक सन्दर्भों को, नयी जिज्ञासाओं को, नये दर्दों को व्यक्त कर पाने में समर्थ दिखायी पड़ें। प्रयोगवाद ने स्थापित जीवन-मूल्यों और विश्वासों को भी नवीन प्रश्न और अस्वीकृति की दृष्टि से देखा। लेकिन नये मनःसत्यों की खोज में प्रयोगवादी कवि अन्तर्गुहावासी हो गया। वह अचेतन की कुंठित यौनवासना और उस कुंठा से निर्मित व्यक्तित्व की अहं-केन्द्रित गति और चिन्तन, निराशा, जीवन के प्रति अनास्था तथा अस्वीकृति के भाव को प्रधान काव्य-कथ्य मानकर लोकजीवन से कटने लगा। उसकी अनुभूति की जड़ें, बस उसी में थीं। वह अपने भीतर जितना पा सका, उसी को मनोविज्ञान के नये आलोक में चरम सत्य मान बैठा। उसके शिल्प में अनेक छवियाँ उभरी थीं। उसने छंद, लययुक्त मुक्त छंद के साथ-साथ गद्य छन्द का भी प्रयोग किया। मन की अनेक सूक्ष्म मुद्राओं, स्थितियों, उलझी संवेदनाओं, अनुभूतियों के बारीक से बारीक सूत्रों, क्षणों के बोधों को स्वर देनेवाले प्रतीकों और बिम्बों की खोज की। व्यक्ति के मन के उन सत्यों को, जो सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित और अशोभन माने जाते रहे, उद्घाटित कर प्रयोगवाद ने भी लघुता की ओर दृष्टिपात किया। और उसने एक शुभ कार्य यह किया कि कविता के बाहरी प्रतिमानों की उपेक्षा कर भीतरी प्रतिमानों

की प्रतिष्ठा पर जोर दिया। अर्थात् उसने इस सत्य पर बल दिया कि अनुभव किया हुआ सत्य ही सच्चा काव्य बन सकता है। कवि स्वयं जितना अनुभव करता है, उतना ही ईमानदारी से उसे व्यक्त करना चाहिए। कहा जा चुका है कि प्रगतिवादी कवि सामाकि संवेदना के अभाव में भी या जनजीवन के सत्यों का अनुभव किये बिना भी एक विशेष दर्शन की प्रेरणा से कविताएँ लिख चलता था, जिन्हें वह समाज के व्यापक सत्य से सम्बद्ध मानता था। ऐसी कविताएँ अनुभव की आंच के अभाव में कविताएँ नहीं बन पाती थीं। इसलिए प्रयोगवाद ने व्यक्ति द्वारा भोगे हुए छोटे सत्य को भी उधार लिये हुए बड़े सत्य से उच्च माना। यों व्यवहार में कहीं-कहीं बनावट तो यहां भी दीखती है, जहां कवि जीवन-अनुभव के स्थान पर पुस्तकों से प्रेरणा ग्रहण करने लगता है।

जब मैं कहता हूँ कि नयी कविता में जीवन के प्रति अगाध आस्था हैं तो उसका अर्थ यह है कि उसने जीवन को उपर्युक्त धाराओं की कविताओं की तरह न तो एकांगी रूप में देखा न केवल महत् रूप में, जीवन को (वह चाहे किसी वर्ग का हो, चाहे व्यक्ति का हो, चाहे समाज का हो) जीवन के रूप में देखा, इसमें कोई सीमा नहीं निर्धारित की। मनुष्य किसी वर्गीय चेतना, सिद्धान्त, आदर्श की वैशाखी पर चलता हुआ इसके पास नहीं आया, अपने सम्पूर्ण सुख-दुःख राग-विराग के परिवेश से संयुक्त शुद्ध मनुष्य के रूप में आया। यानी नयी कविता कोई वाद नहीं है, जो अपने कथ्य और दृष्टि में सीमित हो। काव्य की व्यापकता और दृष्टि की उन्मुक्तता नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता है। नयी कता को हम नया बोध मानते हुए भी परम्परा से विछिन्न करके नहीं देख सकते। नयी कविता लिखने वाले जो कवि हैं, उन में से अधिकांश अच्छे कवि प्रगतिवाद के और प्रयोगवाद के खेमों में रह चुके हैं और उन खेमों की सीमाओं से अवगत होकर दोनों किसी खुले क्षेत्र में आने को आकुल थे। नयी कविता दोनों क लिए सामान्य भूमि के रूप में प्राप्त हुई। लेकिन उन दोनों वादों की कुछ अपनी-अपनी संभावनाएँ भी थीं। लोक-जीवनानुभूति, समाजिक दृष्टि, लोक-संस्पर्श से प्रभावित काव्य-शिल्प, निराशा-पराजय के भीतर भी अनागत भविष्य की विजय के प्रति उत्साहमयी दृष्टि-प्रगतिवाद की ये उपलब्धियाँ कवि के पूर्ण व्यक्तित्व का माध्यम पाकर नयी कविता में अधिक खिल उठीं। दूसरी ओर क्षण-बोध, अन्तर्मन की अदृश्य शक्तियों और व्यथाओं, संवेदनाओं,

मुक्त साहचर्य की प्रतीतियों, नये बिम्ब, प्रतीक, उपमान, छन्द से युक्त शिल्प की छवि को लेकर प्रयोगवाद नयी कविता में विलीन हो गया। इस प्रकार नयी कविता में विभिन्न संस्कारों के, विभिन्न अनुभवों के लोग कार्य करने लगे, और उसमें जीवन की बहु विध छवि दिखाई देने लगी। नयी कविता के लिए दो चीजें प्रधान रह गयी हैं—अनुभूति की सच्चाई और बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि। वह अनुभूति क्षण की हो या एक समूचे काल की, किसी सामान्य व्यक्ति की हो या विशिष्ट पुरुष की, आशा की हो या निराशा की, अपनी सच्चाई में कविता के लिए और जीवन के लिए भी अमूल्य है। बुद्धिमूलक यथार्थवादी दृष्टि हमारे व्यक्तित्व के संस्कार को बदलती है और उससे अनुभव करने वाला व्यक्तित्व भी सत्य को सही रूप में पहचान और अनुभव करता है।

नयी कविता मानवतावादी है, परन्तु उसकी दृष्टि यथार्थवादी है। इसलिए उसका मानवतावाद मिथ्या आदर्श की परिकल्पनाओं पर आधारित नहीं है। यथार्थ की तीखी चेतना मनुष्य को उसके पूरे परिवेश में समझने का बौद्धिक प्रयास करती है, उसकी उलझी हुई संवेदना के नाना स्तरों तक अनुभूति और व्याख्या दोनों दिशाओं से पहुँचने की चेष्टा करती है। अतः नयी कविता मनुष्य को किसी कल्पित सुन्दरता और मूल्यों के आधार पर नहीं, बल्कि उसके भीतर तड़पते दर्दों और संवेदनाओं के आधार पर (जोंकि उसके अपने सत्य हैं) बड़ा सिद्ध करती है। अज्ञेय की एक कविता है।

अच्छा
खंडित सत्य
सुघर नीरंध्र मृषा से
अच्छा
पीड़ित प्यार
अकंपित निर्ममता से
अच्छी कुंठा रहित इकाई
सांत्रे ढले समाज से
अच्छा
अपना ठाट फकीरी
मंगनी के सुख साज से
अच्छा सार्थक मौन

व्यर्थ के श्रवण मधुर छन्द से
अच्छा
निर्धन दानी का उघड़ा उर्वर दुःख
धनी सूम के बंजर धुआं घुटे आनन्द से
अच्छे
अनुभव की भट्ठी में तपे हुए कण, दो कण
अन्तर्दृष्टि के
झूठे नुस्खे वाद रूढ़ि उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप शिव रूप सत्य की सृष्टि के

(अरी ओ करुणा प्रभामय)

अनुभूति की सच्चाई की बात बार-बार कही जा रही है। अनुभूति किसकी ? कवि की या समाज की ? मेरा उत्तर है कवि की। समाज की अनुभूति कवि की अनुभूति बन कर ही कविता में व्यक्त हो सकती है। उसका सर्जक व्यक्तित्व कोई यंत्र नहीं है। वह हर कच्चे माल को पहले अपने में आतमसात करता है, फिर व्यक्त करता है। जितना वह ले पाता है, उतना ही उसके काव्य के लिए सत्य है। इसलिए उसके व्यक्तित्व का संकार करने वाली युग-सत्यग्राही चेतना की आवश्कता होती है। युगबोध से संस्कृत व्यक्तित्व अपने माध्यम से सब को देख लेता है, क्योंकि मनुष्य अपने मूल दर्द में एक है और कवि का व्यक्तित्व दर्द की संवेदना का जागरूक भोक्ता :

चेहरे थे असंख्य
आंखें थीं
दर्द सभी में था
जीवन का दंश सभी ने जाना था
पर दो
केवल दो
मेरे मन में कौंध गयीं
मैं नहीं जानता किसकी वे आंखें थीं
नहीं समझता फिर उनको देखूंगा
परिचय मन ही मन चाहा हो उद्यम कोई नहीं किया)
किन्तु उसी की कौंध
मुझे फिर फिर दिखलाती है।

चेहरे असंख्य
आँखें असंख्य
जिन सब में दर्द भरा है
पर जिनको मैं पहले देख नहीं पाया था
वही परिचित दो आँखें ही
चिर माध्यम हैं
सब आँखों से सब दर्दों से
मेरे चिर परिचय का
—अज्ञेय

नयी कविता क्षणों की अनुभूतियों को महत्त्व देती है। इसलिए नहीं कि वह जीवन की सम्पूर्णता में विश्वास नहीं करती, वरन् वह एक-एक क्षण के बोध को, अनुभूति को सत्य मानकर जीवन का पूर्ण उपभोग करना चाहती है। जीवन क्षण-भंगुर है, क्षणिक स्वप्न है, यह दृष्टि जीवन को क्षण मानकर उससे पलायन को प्रेरित करती है। वह क्षण की महत्ता को अस्वीकार करती है। रोमांटिक दृष्टि, अध्यात्मवादी दृष्टि कुछ इसी प्रकार की प्रवृत्ति से प्रेरित है। संसार क्या है ?

अवधि के वक्षस्थल में व्याप्त
बुलबुले का वह क्षणिक उभार —भगवती चरण वर्मा

पानी केरा बुदबुदा ज्यों मानस की जात।
भोर भए छिप जायेगी ज्यों तारा परभात ।। —कबीर

इसलिए ये कवि क्षणिकता को छोड़कर असीम की खोज में निकल पड़ते हैं। लेकिन सीमा से असीम और क्षण से शाश्वत की ओर इनकी यात्रा काल्पनिक ही होती है, क्योंकि ऐसे शाश्वत और असीम की सत्ता ही नहीं जो क्षण या सीमा से परे हो, कोई वस्तु-निरपेक्ष वस्तु हो। कवि बार-बार ललकता है—

है हमें बहाने को आई
वह रस की एक हिलोर प्रिये
शाश्वत असीम में चलना है
निज सीमा के उस ओर प्रिये —भगवती चरण वर्मा

वह जानता है कि उसका असीम या शाश्वत अस्पष्ट अरूप कल्पना है। इसीलिए वह वहां चेतना में, यानी यथार्थ-बोध की अवस्था में नहीं

पहुँच सकता। वह अपने को भुलावा देकर ही पहुँच सकता है—

ले चल मुझे भुलावा देकर
मेरे नाविक धीरे-धीरे

—प्रसाद

इसकी शाश्वत के लिए भटकती प्रवंचना कामायनी के मनु की तरह है, जो कहता है—

इस विजन प्रांत में बिलख रही
मेरी पुकार, उत्तर न मिला

नयी कविता जीवन के एक-एक क्षण को सत्य मानती है और उस सत्य को पूरी हार्दिकता और पूरी चेतना से भोगने का समर्थन करती है। क्षण-बोध शाश्वत-बोध का विरोधी नहीं, उसे प्राप्त करने की यथार्थ प्रक्रिया है। और सच तो यह है कि हम क्षणों में जीते हैं और क्षणों में ही शाश्वत को पाते हैं। क्षणों में दिखायी पड़ने वाला जीवन-सौन्दर्य, क्षणों में अनुभूत होने वाली जीवन की व्यथा या उल्लास, क्षणों में लक्षित होने वाली मनः-स्थिति या बाह्य व्यापार, क्षणों की सीमा में स्फूर्जित हो जाने वाला कोई सत्य छोटा नहीं है। बड़े समयों या महत्त्वपूर्ण माने गये अवसरों की व्यर्थ प्रतीक्षा में इन क्षणों को खो देना मानो जीवन को खो देना है। क्षणों को तन्मयता से जियो। विराट इतिहास की, संवेदन-शून्य जीवन की विराटता क्या देगी ?

शरद चांदनी
बरसी
अंजुरी भरकर पीलो
ऊंघ रहे हैं तारे
सिहरी सरसी
ओ प्रिय कुमुद ताकते
अनझिप
क्षण में
तुम भी जी लो —अज्ञेय (बावरा अहेरी)

इन क्षणों की अनुभूति के परे इतिहास क्या है ? यह प्रश्न 'कनुप्रिया' की राधा के समान नयी कविता की समस्त मनीषा के सामने खड़ा है—

अच्छा मेरे महान कनु,
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ़ भावावेश थे
सुकोमल कल्पनाएँ थीं
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे
मान लो कि
क्षण-भर को
मैं यह स्वीकार लूँ
कि पाप-पुण्य धर्माधर्म न्याय-दण्ड
क्षमाशील वाला यह तुम्हारा युद्ध सत्य है।
तो भी मैं क्या करूँ कनु
मैं तो वही हूँ
तुम्हारी बावरी मित्र
जिसे सदा उतना ही ज्ञान मिला
जितना तुमने उसे दिया
जितना तुमने मुझे दिया है अभी तक
उसे पूरा समेट कर भी
आसपास जाने कितना है
तुम्हारे इतिहास का
जिसका कुछ अर्थ समझ नहीं आता।

* * *

हारी हुई सेनाएँ, जीती हुई सेनाएँ
नभ को कंपाते हुए युद्ध-घोष, क्रन्दन स्वर
भागे हुए सैनिकों से सुनी हुई
अकल्पनीय अमानुषिक घटनाएँ युद्ध की
क्या ये सब सार्थक हैं ?
अर्जुन की तरह कभी—
मुझे भी समझा दो
सार्थकता क्या है बन्धु ?

मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

—भारती

अनुभूति-शून्य व्यथा-रिक्त इतिहास असत्य है निरर्थक है। इसलिए नयी कविता अनुभूतिपूर्ण गहरे क्षण, प्रसंग, व्यापार या किसी भी सत्य को उसकी आन्तरिक मार्मिकता के साथ पकड़ लेना चाहती है। इस प्रकार जीवन के सामान्य से सामान्य दीखने वाले व्यापार या प्रसंग नयी कविता में नया अर्थ पा जाते हैं।

आज फिर शुरू हुआ जीवन
आज मैंने एक छोटी सी
सरल कविता पढ़ी
आज मैंने सूरज को डूबते देर तक देखा
आज मैंने शीतल जल से भी भर कर
स्नान किया
आज एक छोटी सी बच्ची आयी
किलक मेरे कन्धे चढ़ी
आज आदि से अन्त तक एक पूरा
गान किया
आज जीवन फिर शुरू हुआ

—रघुवीर सहाय

प्रस्तुत कविता में सारे दृश्य और व्यापार सामान्य हैं, छोटे-छोटे हैं। प्रचलित इतिहास की मान्यता में इन्हें कोई स्थान नहीं है। किन्तु ये सहज जीवन के अङ्ग हैं यदि इन्हें अनुभूतियों के क्षण में पकड़ा जाए। ये सभी अलग-अलग भी और मिल कर जीवन की ताजगी व्यक्त करने वाले बिम्ब हैं। समय के जल को छू कर नहीं, इसके किनारे बैठ कर नहीं बल्कि इसमें अपने को तीव्रता से प्रतिबिम्बित करके, अपने को देकर ही उसे अमर किया जा सकता है।

आओ इस झील को अमर कर दें
छू कर नहीं
किनारे बैठ कर भी नहीं
एक संग झांक इस दर्पण में

अपने को दे दें हम
इस जल को
जो समय है । —नरेश मेहता (बन पाखी सुनो)

हिन्दी में क्षणों की अनुभूतियों को लेकर बहुत-सी मर्मस्पर्शी और विचार-प्रेरक कविताए लिखी गयीं हैं। ये कवितायें कुछ क्षणों का, लघु प्रसंगों का, लघु दृश्यों का चित्रण नहीं करतीं, बल्कि कुछ संगत और असंगत बिम्बों के माध्यम से क्षणों की परिधि में उफनते जीवन की संश्लिष्टता को मूर्तिमान कर देती हैं। ये कविताएँ आकार में छोटी होती हैं और प्रभाव में अत्यन्त तीव्र। यों तो प्रायः सारे नए कवियों ने इस प्रकार की कविताएँ लिखी हैं, परन्तु विशेष रूप से अज्ञेय, कुंवर नारायण, नरेश मेहता. उदयभान मिश्र, श्रीकांत वर्मा, केदार अग्रवाल की कविताएँ देखी जा सकती हैं।

बन्द कमरों में
धूप के पंख, फड़फड़ाते हैं
बाहर
  हवा :
फूल के गुच्छे हिलाती
दरवाजा तोड़ने को
बेताब है । —उदयभान मिश्र (सिर्फ एक गुलाब के लिए)

जीवन को जीवन की दृष्टि से देखने वाली कविता के सामने अनेक प्रश्न आते हैं। जीवन किसका? कुछ आलोचकों ने यह आक्षेप लगाया है कि नयी कविता में चित्रित जीवन-बोध या सत्य विदेशी दर्शन और कविता से उधार लिया गया है। यानी टी० एस० इलियट, डी० एच० लारेन्स, एजरा पाउण्ड. बादलेयर, अरागों आदि पश्चिमी कवियों की कविताओं में प्रतिबिम्बित होने वाली पश्चिमी जीवन में व्याप्त युद्धों की पीड़ा. अनास्था, बिखराव अराजकता और मूल्य-हीनता की छाया नयी कविता में है। इतना ही नहीं, इनमें से अधिकांश कवि पढ़ते-सोचते अंग्रेज़ी में हैं और लिखते हिन्दी में हैं, इसलिए पश्चिमी कविता के विचार, भाव, दृष्टि, बिम्ब, प्रतीक सभी नयी कविता को प्रभावित करते दीखते हैं। कहने का अर्थ यह है कि नयी कविता की जड़ें अपनी जमीन में नहीं हैं। और यह कविता यहां के लोगों के जीवन-सत्यों को न ग्रहण कर परोक्ष भाव से पश्चिम के जीवन-सत्यों को

ग्रहण करती है। इस आक्षेप में कुछ सत्य है किन्तु इसे नयी कविता की धारा का मूल-स्वर हम नहीं मान सकते। इसे अपवाद रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। कहा जा चुका है कि नयी कविता जीवन को अनुभूति के क्षणों में पकड़ने की पक्षपातिनी है। अनुभूति प्राप्त करने वाला स्रष्टा अपने परिवेश की उपज होता है। अनुभूतियां उसे अपने परिवेश से ही प्राप्त होती हैं। अतः नयी कविता अपने परिवेश के जीवन सत्यों को छोड़ कर खड़ी कहां रह सकती है।

हां, जीवन-सत्य को हमें दो रूपों में देखना होगा। कुछ जीवन-सत्य किसी विशेष समय और स्थान के होते हैं जो कविता में आकर समय और स्थान के बंधनों को तोड़ बैठते हैं। कुछ सत्य ऐसे होते हैं, जो प्रकृति से ही देश-काल की दूरियों से परे होते हैं। कविता एक ऐसी संश्लिष्ट कृति है कि इसमें हम परिवेशगत और परिवेशमुक्त सत्य को अलग कर नहीं देख सकते। फिर भी सुविधा के लिए हम कह सकते हैं कि मन के बहुतेरे सत्य देश-काल का बंधन नहीं मानते। मनोविज्ञान जब मन के सत्यों को उद्घाटित कर उनके आधार पर नियमों की स्थापना करता है तो हम कह सकते हैं कि वे मनः सत्य सभी के हैं। उन मनः सत्यों का बोध अनुभूति और तत्सम्बन्धी साहित्य तथा शास्त्र दोनों माध्यमों से होता है। बल्कि यों कहें कि साहित्य और शास्त्र पढ़ने से तत्सम्बन्धी अनुभूतियों का विस्तार भी होता है। लेकिन यह भी सत्य है कि मनः सत्य विभिन्न देश-काल की बनावट और सम्बन्धों के अनुसार अपनी स्थिति में विषमता दिखाया करता है। जैसे एक नियम है कि चेतन मस्तिष्क के बार-बार के दबाव से अचेतन से उठती हुई मनुष्य की सहज यौन-वासनाएँ कुंठा बन जाती हैं और वे कुंठाएँ मनुष्य के चिन्तन, आचार आदि को प्रभावित करती हैं। यह सत्य है कि नियम विभिन्न प्रकार के सामाजिक जीवन में विभिन्न प्रकार की मात्रा में प्रतिफलित होगा। जहां जितना ही अधिक सामाजिक दबाव होगा और जितनी ही अधिक उस दबाव को अनुभव करने वाली संवेदना होगी, वहां उतनी ही अधिक कुंठा होगी। मुझे कहना यह था कि नयी कविता में जो अनुभूति और चेतना है, उसका स्रोत अपना ही परिवेश है। किन्तु आधुनिक विश्व की कुछ समान समस्याएँ, कुछ समान धारणाएँ, कुछ समान जीवनानुभूतियां विभिन्न साहित्यों में दिखाई पड़ती हैं तो हम एक को दूसरे का अनुकरण तो नहीं कह सकते हैं। विज्ञान के युग ने समस्त विश्व की कितनी ही समस्याओं को एक कर दिया है। हम

चाहें या न चाहें, हमें उन समस्याओं से प्रभावित होना ही पड़ता है। नयी कविता में जीवन के कितने ही ऐसे स्वर मिलेंगे जो पश्चिम के नए कवियों के स्वरों से प्रभावित दिखाई पड़ेंगे, या अनजाने ही समानान्तर लक्षित होंगे। क्योंकि दोनों के मूल में सत्य की एक-सी आंच है। फिर भी मैं कहूँगा कि नयी कविता का स्वर अपने परिवेश की जीवनानुभूति से फूटा है। विभिन्न कविताओं के जीवनानुभव विभिन्न परिवेशों से सम्बद्ध हो सकते हैं। लेकिन सत्य है कि यथार्थवाद का आग्रह करने वाली नयी कविता परिवेश के सत्यों को झुठला कर विराट, अनन्त, असीम के फलसफे नहीं गढ़ती। जीवनानुभव की सीमा होती है। किन्तु सीमा के भीतर की अनुभूति अपनी सच्चाई और तीव्रता में असीम हो जाती है।

शहरी जीवन और ग्रामीण जीवन संस्कार की बात मैं यहां उठाऊँगा। नयी कविता में इन दोनों जीवन-परिवेशों को लेकर लिखने वाले कवि हैं। यह बटवारा शहर या गांव के तारतमिक बड़प्पन को ध्यान में रख कर नहीं किया गया है। यह तो इन दो परिवेशों में सच्चाई से काम करने वाली कविताओं को ध्यान में रखकर किया गया है। शहर का प्रगतिवादी कवि देहात पर कविता लिखता था—कच्ची, झूठी प्रभावहीन कविता। शहर का नया कवि गांव के संस्कारों और जीवन-तपन से नजदीक से परिचित नहीं, इसलिए यह शहरी जीवन के परिवेश में प्राप्त सत्य की अनुभूति की अभिव्यक्ति करता है। देहाती जीवन-संस्कारों में पला कवि गांव के जीवन-बोधों को, उसके अन्तर्विरोधों को, विकसित मूल्यों को वहीं के बिम्बों, मुहावरों और प्रतीकों में पकड़ता और व्यंजित करता है। ये दो संस्कार हैं और दोनों सत्य हैं। इसलिए जब कोई शहरी कवि या कहानीकार यह मत व्यक्त करता है कि देहाती जीवनानुभूति लेकर लिखने वाले आज के जटिल सत्य से पलायन करते हैं तो वह जीवन के एक बहुत बड़े परिवेश से अपने को काटकर नये उलझे जटिल सत्य के नाम पर कविता का क्षेत्र संकुचित कर देता है। इसी प्रकार जब आंचलिकता की सतह पर दौड़ने वाला कोई कवि या कथाकार शहरी परिवेश में लिखी हुई कविताओं या कहानियों को व्यक्ति-सत्य कह कर उसकी भर्त्सना करता है तो वह सत्य के एक दूसरे आयाम को नकारना चाहता है। अज्ञेय एक ऐसे कवि हैं, जिनका अनुभव क्षेत्र बड़ा व्यापक है। शहरी जीवन और देहाती जीवन की तीव्र चेतना इनकी कविताओं को व्यापक रूप देती है। किन्तु सभी कवियों का बोध अज्ञेय के समान व्यापक नहीं है।

एक ओर बालकृष्ण राव, शमशेर बहादुर सिंह, गिरिजा कुमार माथुर, कुंवर नारायण, भारती, प्रभाकर माचवे, विजय देव नारायण साही, श्रीकांत वर्मा, वीरेन्द्र कुमार जैन उदयभान मिश्र, राजेन्द्र किशोर, रघुवीर सहाय, अशोक वाजपेयी, कीर्ति चौधरी आदि कवि हैं, जिनकी संवेदनाएं और अनुभूतियाँ मुख्यत: शहरी परिवेश की हैं। दूसरी ओर भवानी प्रसाद मिश्र, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना, केदारनाथ सिंह, शंभुनाथ सिंह, भारतभूषण अग्रवाल, ठाकुर प्रसाद सिंह, नागार्जुन, केदारनाथ अग्रवाल आदि ऐसे कवि हैं जो मूलत: गांव के संस्कारों और अनुभूतियों से बने हैं। किन्तु यह ऐकांतिक अलगाव नहीं है। दोनों प्रकार के क्षेत्रों में कवि संक्रमण करते हैं। कविता के लिए मूल क्षेत्र शहर या देहात नहीं है, बल्कि इन दोनों क्षेत्रों की जिन्दगी के अनुभव-सत्य हैं, जो काव्य के स्तर पर आकर अपनी एकदेशीयता खो बैठते हैं। इस परिवेश के प्रभाव को देखने के लिए एक ओर मदन वात्स्यायन की यांत्रिक परिवेश की कविताएं देखिए, दूसरी ओर ठाकुर प्रसाद सिंह के संथाली जीवन के वातावरण में सर्जित आर्द्र गीत देखिए। अज्ञेय एक ओर मध्य वर्गीय व्यक्ति मन की कुंठा-निराशा को, औद्योगिक नगरों की असंगति-भरी सभ्यता को उसकी तीव्रता में पकड़ते हैं—

सांप तुम सभ्य तो हुए नहीं, न होंगे
नगर में बसना भी तो तुम्हें नहीं आया,
एक बात पूछूं, उत्तर दोगे ?
फिर कैसे सीखा डसना,
विष कहाँ पाया ?

तो दूसरी ओर उन्मुक्त प्रकृति या गांव-जीवन की किसी छवि, विषमता या व्यथा को व्यंजित करते हैं या प्रकृति और गांव-जीवन के बिम्ब ले कर अनुभूति या सौन्दर्य का कोई स्वर उभारते हैं—

झींगुरों की लोरियाँ
सुला गयी थीं गाँव को
झोंपड़े हिडोलो-सी झुला रही हैं
धीमे-धीमे
उजली कपासी धूप लोरियां (रात में गाँव)

बह चुकीं बहकी हवाएँ चैत की
कट गयीं पूलें हमारे खेत की
कोठरी में लौ बढ़ा कर दीप की
गिन रहा होगा महाजन सेंत की (हवाएँ चैत की)

नयी कविता का परिवेश अपने यहां का जीवन है। लेकिन लोगों का आक्षेप है कि नयी कविता में अतिरिक्त अनास्था, निराशा, व्यक्तिवादी कुंठा और मरण धर्मिता है। ये विशेषताएँ पश्चिम की नकल से पैदा हुई हैं। अतः नयी कविता विदेशी परिवेश से प्रेरणा ग्रहण करती हैं। यह सत्य है कि नयी कविता में निराशा, कुंठा, मरण-धर्मिता भी है। किन्तु नयी कविता की इन विशेषताओं को जन्म देने की शक्ति अपने समाज में ही हैं। अर्थात् अपने समाज का परिवेश बड़ा विषम है। इसके भीतर यहां का जो संवेदन शील व्यक्ति जी रहा है, कदम-कदम पर उसकी संवेदना को चोट पहुँचती है। जो बीताराग हैं या जो दुनियादारी के अर्थ में कामयाब हैं, वे सुखी हैं। उन्हें कुंठा नहीं व्यापती, क्योंकि उनकी चमड़ी मोटी है, और वे अपनी सिद्धि के लिए कुछ भी कर सकते हैं। ऐसे नेता टाइप के लोग ही अधिक नैतिकता, आशा और जीवन की बातें करते हैं। लेकिन सर्जक तो जीवन में व्याप्त दर्द को नहीं झुठला सकता। यदि सामाजिक स्थिति में तड़पते व्यक्ति को निराशा, कुंठा, लाचारी और मृत्यु की कामना प्राप्त होती है तो वह उधार में सुख, आशा और जीवन की प्रवंचना कहां से लाएगा ? आत्महत्या करना पाप है, अनैतिक कार्य है—कानून और नीतिशास्त्र कहेंगे। लेकिन आत्महत्या एक भयंकर मजबूरी है, यह भी सत्य है, और कहीं अधिक सत्य है। यह मजबूरी व्यक्ति को अपने परिवेश द्वारा ही तो प्राप्त हो रही है। एक यथार्थवादी सर्जक के लिए आत्महत्या की अनुभूति भी उतने ही महत्व की है, जितनी कि प्रेम की। लेकिन आत्महत्या की अनुभूति को चित्रित कर के कवि आत्महत्या के लिए प्रेरित नहीं करता, वरन् वह तो उस कारणों की ओर तेज प्रकाश फेंकता है, जिनकी वजह से जीवनेच्छा से भरा हुआ व्यक्ति भी आत्महत्या करने के लिए विवश हो गया। मूल में यह सर्जन नकारात्मक नहीं है। किन्तु मानव मन की निराशा और अनास्था को व्यक्त करना एक बात है और उसे ही जीवन-दर्शन मान लेना दूसरी बात है। जीवन के हर एक क्षण को विश्वास के साथ भोगना, उसकी आशा और आनंद क साथ उसकी पीड़ा और निराशा को भी जीवन-सत्य मान कर सच्चे रूप में भोगना ही जीवन

का सच्चा उपभोग है। और असल में वही जीवन की आस्था है। किन्तु पीड़ा और निराशा को जीवन का मूल सत्य मान कर दिन-रात मरसिया पढ़ने का उपदेश देना सामाजिक जीवन के समस्त विकास के पीछे कार्य करने वाली मनुष्य की जिजीविषा, प्रेम और उल्लास को अस्वीकार करना है। अस्तित्व-वादी दर्शन के प्रभाव से एक दूसरे के अस्तित्व को नरक मान लेना, सामाजिक जीवन के पीछे किसी प्रकार की आयोजित व्यवस्था को न स्वीकार करना, जीवन को निरुपाय, निरर्थक और जीने की एक बेबसी मान लेना, जीवन के प्रति अनास्थावादी दृष्टि है। नयी कविता में भी पीड़ा को निराशा को, कहीं-कहीं जीवन का एक पक्ष न मान कर समग्र जीवन-दर्शन मान लिया गया है। वहाँ पीड़ा जीवन की सर्जनात्मक शक्ति न बन कर उसे गतिहीन करने वाली बाधा बनकर आयी है। 'प्रारंभ' के 'नस्ल हीन और अधनंगे लोग' शीर्षक की काव्यत्व हीन नंगी कविताएँ देखी जा सकती हैं।

पृथ्वी को एक सड़ा हुआ अण्डा कहना घोर अनास्थावादी दृष्टि है और साथ ही साथ असत्य भी। इसी प्रकार सौन्दर्य के मान्य उपमानों को प्रतिक्रिया में आ कर असुन्दरता और बीभत्सता के बिम्ब के रूप में प्रयुक्त करना या सुन्दर स्थानों और वस्तुओं को खामखाह के लिये मृत्यु, असुन्दरता, भय, निराशा आदि से जोड़ना जीवन क प्रति असर्जनात्मक दृष्टिका परिचायक है। नयी कविता में भी कुछ पीड़ा के नकली कारखाने खोलने वाले और पश्चिमी वेदना का चश्मा लगाने वाले कवि हैं। या यों कहिए कि बहुत से कवि समय-समय से इसका इस्तेमाल कर लेते हैं। किन्तु मैं फिर भी कहूँगा कि नयी कविता की भूल धारा यह नहीं है। ऐसी ही कविताओं को लक्ष्य में रख कर श्री वीरेन्द्र कुमार जैन ने सूर्योदयी कविता की घोषणा की है। श्री जैन की सूर्योदयी कविता की परिभाषा और उसकी आध्यात्मिक आशावादिता से असहमत हुआ जा सकता है:—किन्तु उस धोषणा से एक बात में पूर्ण सहमत हुआ जा सकता है कि निराशा गलीचपन, जुगुप्सा, अंधकार-पूजा कविता का लक्ष्य नहीं हो सकती, जीवन के प्रकाश क प्रति उसे आशान्वित होना ही होगा। आस्था, अनास्था, पीड़ा और उल्लास दोनों तत्व हमारे सामाजिक, राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त हैं, किन्तु मानवतावादी कवियों के लिए पीड़ा का एक सर्वनात्मक पक्ष है। वे उसे ही पकड़ते हैं। इन कवियों का दर्द हमारे आज के जीवन के सूनेपन का अहसास कराता है, साथ ही उस दर्द से फूटी हुई ज्योति भी देखता है।

दु ख सबको माजता है
और
चाहे स्वयं सबको
मुक्ति देना वह न जाने
किन्तु जिनको माजता है
उन्हें यह सीख देता है कि
सबको मुक्त रखें

—अज्ञेय

किन्तु नयी कविताओं में बहुत सी कविताएं ऐसी भी हैं, जिनमें कवियों ने व्यथा को एक वस्तु-स्थिति मानकर अपने से चिपका लिया है। ऐसी दृष्टि समाज या व्यक्ति-जीवन के अभाव पक्ष को ही उद्घान्ति करने में रस लेती है। अभाव-पक्ष के उद्घाटन की सार्थकता है यदि कविता उपलब्धि सी दीखनी वाली किसी चीज के भीतर की रिक्तता को व्यंग्यात्मक ढंग से व्यक्त करे या वह अभाव पक्ष के भीतर से जीवन की ओर संकेत करे। शून्य जोड़ने के लिए हो तो उसका मूल्य होता है। अपने आप में शून्य व्यर्थ है।

एक शून्य है
मेरे हृदय के बीच
जो मुझे मुझ तक पहुँचाता है।

—कुँवर नारायण

अनागत भविष्य की पदचाप भी आस्थावादी कवियों को सुनाई पड़ती है। इसी संदर्भ में नयी कविता की मूल्यवादी दृष्टि का प्रश्न उठा सकते हैं। मूल्य का क्या अर्थ होता है? प्रचलित अर्थ में जीवन की उन विशेषताओं को मूल्य कहते हैं, जो मानव को शेष सृष्टि के साथ जोड़ती हैं। उसे संकुचित स्वार्थ वृत्तियों और स्थूल प्रयोजन के धरातल से ऊपर उठा कर उस स्तर पर प्रतिष्ठित करती है, जहाँ पहुँच कर वह समष्टि जीवन के मंगल और आनन्द के लिए प्रयत्नशील होता है। इसी को भारतीय मनीषा ने सौन्दर्य-बोध, प्रेम भक्ति, श्रद्धा, सेवा, सत्य, अहिंसा आदि नाम दिये हैं। स्पष्ट है कि नयी कविता जीवन-मूल्यों की पुनः परीक्षा करती है। ये मूल्य नवीन युग की आवश्यकताओं के परिवेश में कितने खरे उतरते हैं और अपने रूढ़ रूप में कितने असंगति पूर्ण हो गये हैं? इनका कितना स्वरूप आज के लिए भी ग्राह्य है? आदि परीक्षाएँ जागरूक कवि और चिंतक को करनी पड़ती हैं। संक्रांति-काल में मूल्यों का संक्रमण होता है। नये मूल्य बनने की प्रक्रिया में होते हैं,

पुराने मूल्य फिर खरादपर चढ़ते हैं। नयी कविता ने जीवन के मूल्यों की फिर परीक्षा की है। इस परीक्षा के जो परिणाम सामने आये, वे ये हैं—कि कुछ मूल्य तो निश्चय ही सामयिक थे, आज सिद्धांत और व्यवहार दोनों ही रूपों में व्यर्थ हो गये। कुछ मूल्य अपनी प्रकृति में मानव जीवन की चिरन्तन निधि सिद्ध हैं, किन्तु वे व्यवहार में बड़े निकम्मे तरीके से प्रयुक्त किये गये हैं। वे केवल नीति वाक्यों के रूप में उच्चरित किये जाते हैं। नयी कविता की प्रश्नाकुल दृष्टि इन मूल्यों को उनकी विकसित असंगतियों के बीच देखती है। इसलिए जहां ये मूल्य अपनी असंगतियों के कारण तीखे व्यंग्य का भाजन बनते हैं, वहीं नये सन्दर्भों में भी सिद्ध होने वाली उपयोगिता के कारण आस्था का आधार है। नये मूल्यों की पुनः परीक्षा का क्रम नया नहीं है। हर युग ने पुराने मूल्यों को अपने सन्दर्भ में कसा है किन्तु इन युगों की कविताओं के सामने समाधान के तौर पर कोई आदर्शवाद उतर आता रहा है और प्रश्नाकुलता का स्थान भावात्मक मानवतावादी आस्था ले लेती रही है। परन्तु नई कविता की यथार्थवादी दृष्टि काल्पनिक या आदर्शवादी या भावुकता मिश्रित मानववाद से सन्तुष्ट न हो कर जीवन का मूल्य जीवन में ही खोजती है। उसका सौन्दर्य, उसका प्रकाश जीवन के बीच ही पाना चाहती है। और जब माने जाने सौन्दर्य और प्रकाश केन्द्रों की ओर देखती है तो उन्हें हतप्रभ और मिथ्या पाती है। फिर उन पर कैसे विश्वास करे ? लेकिन उसके भीतर जीवन की सच्ची ज्योति पाने की अपार तड़प है। वर्तमान की गहन निराशा और बिखराव के बीच भी उस अनागत ज्योति के लिए प्रतीक्षमान है। नयी कविता द्विवेदी कालीन कविता, छायावाद या प्रगतिवाद की तरह अपने बने बनाये मूल्यवादी नुस्खे नहीं पेश करती, वह तो उसे जीवन की सच्ची व्यथा के भीतर पाना चाहती है। इसलिए नयी कविता में व्यंग्य के रूप में कहीं पुराने मूल्यों की अस्वीकृति है—

मैं नया कवि हूँ।
इसी से जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है।
मैं नया कवि हूँ
इसी से मैं जानता हूँ
चश्मे के तले की दृष्टि बहरी होती है
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ
झूठी मुस्कानें नहीं बेचता। —सर्वेश्वर दयाल सक्सेना

ओ महा प्रलय के बाद
नये उगते शिखरो
है तुम्हें कसम इन ध्वस्त विंध्य मालाओं की
मत शीश झुकाना तुम अपना
आसूर्य तुम्हारा तेजस्वी यह भाल देख
कितने अगस्त्य आयेंगे गुरु का वेश धरे
आशीष वचन कहने वाले
चिर विनत तुम्हारा मस्तक
यों ही झुका छोड़
ये गुरुवर वापस नहीं लौट कर आयेंगे

—विजयदेव नारायण साही

तो कहीं दर्द की सच्चाई के भीतर से उगते हुए नये मूल्यों की सम्भावना के प्रति आस्था—

या कुछ नहीं तो
बहुत सम्भव है, किसी सागर किनारे
दूर पर जाते हुए जलयान की
शुभ कामना में
एक बुझती सांझ का रूमाल बन कर
हिल उठूं
एक नन्हा बीज मैं अज्ञात नवयुग का
आह, कितना कुछ सभी कुछ
न जाने क्या क्या
समूचा विश्व होना चाहता हूँ।
भोर से पहले तुम्हारे द्वार—
तुम मुझे देखो या न देखो
कल उगूंगा।

—केदार नाथ सिंह (निराकारकी पुकार)

मूल्यों के प्रश्न बड़े उलझे होते हैं। नयी कविता ने किसी मूल्य को फारमूले के रूप में नहीं स्वीकारा है। मूल्य मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व, संकल्प-विकल्प, लघुता-महत्ता के मिले-जुले संदर्भों में ही खिल सकते हैं। एक सत्य होता है व्यक्ति का, एक सत्य होता है समाज का। कभी कभी दोनों समान और

कभी विषम होते हैं। मानव मूल्यों के प्रति आस्थावान व्यक्ति अपन व्यक्तिगत विकल्प को सामाजिक संकल्प के सामने विसर्जित कर देता है। लंका युद्ध करने से पहले युद्ध के विषय में राम के मन में संशय की रात्रि उमड़-घुमड़ रही है। वे व्यक्तिगत रूप में युद्ध के विरुद्ध हैं। युद्ध में उन्हें हजारों प्राणों की आहुति दिखाई पड़ती है। परन्तु सामाजिक निर्णय युद्ध के पक्ष में है। वही निर्णय सामाजिक हित में है, और ऐतिहासिक विवशता है। वह एक दर्शन है, जिसे व्यक्ति को स्वीकारना ही पड़ता है।

मैं ने अपने को सौंप दिया
ज्वारों को
विवश धरती सा सौंप दिया
अपने को सौंप दिया
अब मैं निर्णय हूँ सब का
अपना नहीं

—नरेश मेहता (संशय की एक रात)

नयी कविता ने धर्म दर्शन, नीति, आचार सभी प्रकार के मूल्यों को चुनौती दी है यदि वे मात्र फ़ारमूले हैं, मात्र ओढ़े हुए हैं और जीवन की नवीन अनुभूति, नवीन चिन्तन नवीन गति के मार्ग में आते हैं। इन मान्य फारमूलों को, मूल्यों की विघातक असंगतियों को अनावृत करना सर्जनात्मकता से असम्बद्ध नहीं है, वरन् सर्जन की आकुलता ही है। कितनी बड़ी विडंबना है कि उच्च संस्कृतियों और मूल्यों का ताज पहने हुए मानव ही मानव-आत्मा के प्रश्नों का उत्तर नहीं दे पाता। ऐसा लगता है कि उसकी सारी सफलता और प्रगति ऊपरी ही रही है।

मगर जब जब पुकारा मैंने
मानव हीन अचेतन बयाबानों में
पहाड़ों में, गुफाओं में
तो पत्थरों और जंगलों से भी
मेरी प्रतिध्वनियां लौटी हैं
पुकार का उत्तर पुकार से आया है
असंज्ञ पशुओं ने मेरे प्यार दुलार को
बेशर्त प्यार की मूक सिहरन में

लौटाया है
मगर हाय रे हाय, मेरे परम
प्यार की पुकार का उत्तर
हृदय, आत्मा और चेतना के दावेदार
ज्ञानी विज्ञानी प्रगतिमान मानव की
आत्मा में से आज तक लौट कर
नहीं आया है।

—बीरेन्द्रकुमार जैन

जीवन के विशिष्ट प्रसंग साधन-सम्पन्नों के लिए भले ही कोई महत्व रखते हों, किन्तु अन्यों के लिए अर्थहीन आडम्बर ही हैं, जिन्हें धराऊँ कपड़े की तरह पहन कर मुस्कराना पड़ता है।

अच्छा ही हुआ
द्वार पर मेरे चहल पहल नहीं हुई
रह गया वंचित बिशिष्ट होने से
अच्छा ही हुआ कि
सायास मुझे मुसकाना नहीं पड़ा—

—रामसेवक श्रीवास्तव

लोक संपृक्ति नयी कविता की एक खास विशेषता है। नयी कविता पर विदेशी चिन्तन की छाया भी है, किन्तु उसकी अनुभूतियाँ, उसके बिम्ब उसकी जीवन छवि अपने परिवेश की उपज है। कहा जा चुका है कि नयी कविता ने अपने को बाहरी बंधनों और भाव, दर्शन, चिन्तन की असहज गरिमा के आरोपों से मुक्त रखा है। वह सहज लोक-जीवन के करीब पहुँचने का प्रयत्न कर रही है। लोक-जीवन के प्रति उसकी उन्मुखता प्रगतिवाद का प्रभाव कही जा सकती है किन्तु प्रगतिवाद में एक आन्दोलन का स्वर था, सहजता नहीं थी और उसने अपने विशिष्ट दृष्टिकोण के कारण लोक-जीवन का एक विशिष्ट अर्थ लगा लिया था। फिर भी उसने साहित्य को लोक-जीवन की ओर प्रेरित किया। प्रयोगवाद लोक-जीवन से कट गया था। नयी कविता ने लोक-जीवन की अनुभूति, सौन्दर्य-बोध, प्रकृति और उसके प्रश्नों को एक सहज और उदार मानवीय भूमि पर ग्रहण किया। साथ ही साथ लोक-जीवन के बिम्बों, प्रतीकों, शब्दों और उपमानों को लोक-जीवन के

बीच से चुन कर अपने को अत्यधिक संवेदना पूर्ण और सजीव बनाया। प्रश्न यह उठता है कि लोक जीवन की संवेदना और बिम्बों की सहज सुन्दरता से पूर्ण होकर भी नयी कविता क्यों लोक प्रिय नहीं हो पाती ? कारण यह है कि नयी कविता लोक-जीवन की सतही भावनाओं का इतिवृत्त नहीं पेश करती. वह लोक जीवन से लिये गये बिम्बों के माध्यम से प्रतिफिलित होने वाली लोक जीवन की जटिल अनुभूतियों और प्रश्नों को ध्वनित करती है। कविता के ऊपरी आयोजन नयी कविता वहन नहीं कर सकती, वह अपनी अन्तर्लय, बिम्बात्मकता, नव-प्रतीक योजना, नये विशेषणों के प्रयोग, नव-उपमान-संघटना में कविता के शिल्प की मान्य धारणाओं से काफी अलग दीखती है। अर्थात् वह बाह्य चमत्कारों से मुक्त हो कर कविता के लिए जो मूलभूत छवि होती है, उसी को संयोजित करना चाहती है। बिम्ब कविता की मूल छवि है। इसलिए आज की कविता बिम्बबहुला हो गई है। कच्ची अनुकृतियाँ करने वाले, पुस्तकों तथा सिद्धांतों से प्रेरणा लेने वाले कवियों के अपवादों को छोड़कर शेष कवि इन बिम्बों को जीवन के बीच से चुनते हैं। भाषा भी मुक्त भाव से ऐसे शब्दों को लेती है, जो अभिजात नहीं है, लेकिन सशक्त हैं, अपने बीच मिट्टी की गंध छिपाये हुए हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि जीवन के नये सन्दर्भों में उभरने वाली अनुभूतियों, सौन्दर्य-प्रतीतियों और चिन्तन-आयामों से संपृक्त बिम्ब नयी कविता ग्रहण करती है। शहरी कवि के बिम्ब विशेषतया नागरिक जीवन के और ग्रामीण जीवन संस्कारों से युक्त कवि के बिम्ब विशेषतया गाँव के होते हैं। व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों प्रकार के बिम्ब नयी कविता में है। कुछ बिम्ब देखें—

शाखों पर जमे धूप के फाहे
गिरते पत्तों से पल ऊब गए
हांक दी खुलेपन ने फिर मुझ को
लहरों के डाक कहीं डूब गए

—केदारनाथ सिंह

बिता किसी चाह के, परिचय के,
प्रत्याशा के
एक नदी चुपचाप
सागर की अन्तहीन बाँहों में
लीन हो कर शून्य हो गई।

—वीरेन्द्र कुमार जैन

बंधी लीक पर रेलें लादे माल
चिहुँकती श्रौर रंभाती श्रफ़राए
डागर सी
ठिलती-चलती जाती हैं।

—श्रज्ञेय

नदिया में बाढ़ श्राई
ढूह सब ढह गए
हरियाये किनारे, सूखे पत्ते सब बह गए
रस में ये डूबे पल
कानों में कह गए
तपने से डरते थे
इसलिए देखो
तुम श्राज सूखे रह गए

—भारत भूषण श्रग्रवाल

नयी कविता ने श्रपने विम्ब श्रौर प्रतीक पुराण श्रौर इतिहास से भी चुने हैं, लेकिन उन्हें नये श्रर्थ श्रौर सन्दर्भ से सम्पन्न किया है। फुटकल कविताएँ तौ बहुत हैं, किन्तु पुस्तक के रूप में "श्रंधा युग", "कनुप्रिया" 'श्रात्मजयी' श्रौर "संशय की रात" महत्वपूर्ण कृतियां हैं।

लोक-संपृक्ति के संदर्भ में लोक-जीवन से लिये गये शब्दों की श्रोर भी एक दृष्टि डाल लें। छायावाद की शब्दावली विशेषत: संस्कृत की तत्सम शब्दावली थी श्रौर उसके माधुर्य श्रौर सुकुमारता की रक्षा का विशेष ध्यान रखा गया था। वह श्रभिजात पदावली थी। प्रगतिवाद में लोक-शब्दों के प्रयोग की श्रोर विशेष ध्यान दिया गया। किन्तु प्रयोगवाद ने फिर लोक जीवन से सम्बन्ध काट कर रोमानी या बोझिल पदावली का प्रयोग किया। नयी कविता ने प्रगतिवाद की राह को पकड़ा। प्रगतिवाद ने विशेष क्षेत्रों से विशेष-विशेष संदर्भ में ही लोक शब्द लिये थे, मगर नयी कविता ने सभी प्रकार के संदर्भों के लिए शब्द चुने। श्रज्ञेय प्रयोगवादी भी रहे हैं श्रौर नये कवि भी। एक श्रोर उन की प्रयोगवादी शब्दावली देखिए—

वंचना है चांदनी सित
झूठ वह आकाश का निरवधि
गहन विस्तार
शिशिर की राका निशा की
शांति है निस्सार

दूसरी ओर इनकी नयी कविता की शब्दावली—

पहाड़ियों से घिरी हुई
इस छोटी सी घाटी में
ये मुंहझौसी चिमनियां बराबर
धुआं उगलती जाती हैं ।

टोये, भभके-खिचा, सीटी, ठिठुरन, चिड़चिड़ी, ठसकना, यूलें, ठूंठ, विरस, सिराया, ठार हुई, डाकती, फुनगियाना जैसे अनेक शब्द नयी कविता की मुक्त कविताओं और गीतों दोनों में धड़ल्ले से प्रयुक्त हो रहे हैं । इसलिए नयी कविता की भाषा में एक खुलापन और ताजगी दिखायी देती है । वैसे हर एक कवि की अपनी-अपनी भाषा है । अर्थात् वह प्रचलित भाषा को अपने-अपने व्यक्तित्व के अनुरूप रचता है । किन्तु लोक-भाषा के या सहज भाषा के खुलेपन की ओर रुझान सब की है, सामान्यतः यह कहा जा सकता है ।

नयी हिन्दी कविता की सामान्य प्रवृत्तियों और उपलब्धियों की ओर संकेत करने का प्रयास किया गया है, किन्तु काव्यात्मक स्तर पर हर कवि की अपनी-अपनी सीमा और उपलब्धि होती है । और इन विभिन्न कवियों की विभिन्न उपलब्धियों के विवेचन से ही ज्ञात हो सकता है कि इस धारा ने काव्य के इतिहास को जो नया अध्याय प्रदान किया है, वह काव्य की दृष्टि से कितना समृद्ध है । किन्तु इतने लम्बे विवेचन के लिए यहां अवकाश नहीं । दूसरे यह जीवित धारा है । इसकी संभावनाओं की ही बात हो सकती है, उपलब्धियों की बात करना असामयिक होगा । अलग-अलग कवियों के स्तर अलग-अलग हैं । किसी का संवेदन बहुत ही गत्यात्मक, व्यापक और गहरा है तो किसी का अपेक्षाकृत संकीर्ण और उथला । किसी का सौंदर्यबोध अधिक सामाजिक है तो किसी का अपेक्षाकृत व्यक्तिगत । किसी में जीवन का व्यथापक्ष प्रधान है, किसी में आनन्दपक्ष । किसी के शिल्प में अधिक सघनता है, तो किसी में अपेक्षाकृत कथन-प्रणाली की स्फीति । कोई खंडित बिम्बों और मुक्त साहचर्य का प्रयोग कर कविता को जटिल बनाता है, कोई बिम्बों की सघनता के बावजूद उसमें तारतम्य बनाये रखने के कारण अधिक संवेद्य प्रतीत होता है और प्रभाव में घनीभूत ।

प्रवृत्ति और कविता दोनों दृष्टियों से कविता का मूल्यांकन होना चाहिए । ऐसा हो सकता है कि किसी काव्य में नयी प्रवृत्तियों का दर्शन तो

होता हो, किन्तु वे प्रवृत्तियां तथ्य-कथन के रूप में आयी हों। बोध स्वानुभूत भी होता है और दूसरों से लिया गया भी। यानी कि वह युगीन मनीषियों के विचारों या परम्परा से ग्रहण किया गया होता है। जैसे जब कबीर ज्ञान की बात करते हैं तो लगता है कि यह इनका स्वानुभूत ज्ञान है, और जब बिहारी वगैरह रीतिकालीन शृंगारी कवि ज्ञान या भक्ति की बात करते हैं तो प्रतीत होता है कि यह ज्ञान इनके व्यक्तित्व का अंग या अनुभूति की उपज नहीं है, परम्परा से अनासक्त भाव से लिया गया है। स्वानुभूति या स्वानुचिन्तन से उत्पन्न बोध ताजा होता है, उसमें ईमानदारी की आंच होती है। इसलिए वह पाठकों को जीवन का स्वाद देता है, उसमें स्पंदित करने वाली यथार्थ शक्ति होती है और ऊपर से ओढ़ा हुआ बोध बासी होता है। किन्तु बात यहीं समाप्त नहीं हो जाती। कबीर अपने बोध की सच्चाइयों के बावजूद साखियों में बड़े कवि के रूप में क्यों नहीं दीखते? इसलिए कि उन्होंने उनमें उपदेश दिया है या तथ्य-कथन किया है। तथ्य कथन या उपदेश कविता का रास्ता नहीं है, मार्ग है बिम्ब या कल्पना-चित्रों के माध्यम से कविता के बोधों या अनुभवों को पाठकों को अनुभव कराना। नयी कविता के परीक्षण के समय भी उसके नवीन बोध, नवीन दृष्टि और नवीन जीवनानुभूतियों के साथ ही साथ दो वस्तुएं और भी देखने की होंगी। एक तो यह कि क्या ये बोध, अनुभूतियां कवि ने अपने जीवन से प्राप्त की हैं या दूसरों की देखा देखी फैशन वश कह चला है। दूसरे यह कि इन बोधों और अनुभूतियों को कवि ने कहा है या बिम्ब के माध्यम से रूपायित किया है। बिम्ब का संबन्ध अनुभूतियों से है। यानी मन में बिम्ब अनुभूतियों से बनते हैं या अनुभूतियां अपने आप मन में बिम्ब बनाती हैं। इसलिए बिम्बों और अनुभूतियों का बड़ा गहरा सम्बन्ध है। किन्तु कवि बिम्ब रचता भी है। मन में संचित और बिखरे हुए बिम्बों को संघटित कर एक नये बिम्ब या बिम्ब माला की सर्जना करता है और उनसे वह एक ऐसे सत्य की व्यंजना करता है जिसे उसने अनुभूतियों से न सहीं, व्यंजना से पाया हो।

अनुभूति हीन, अस्वायत्त सत्य को कह चलने वाले ऐसे बहुतेरे कवि मिलेंगे, जो नयी कविता को एक फैशन समझ बैठे हैं। अनुभूति-शून्यता को अभिव्यक्ति की अस्पष्टता, अटपटेपन, दुरूहता में छिपाने का फैशन यहां तक बढ़ गया है कि ढेर सी नयी कविताओं के बीच में बहुत से कवियों के व्यक्तित्व को पहचानना मुश्किल हो गया है। और ये हैं कि अपने को नया कवि

(कवि कम, नया अधिक) कहते फिरते हैं। दूसरी ओर कुछ ऐसे भी लोग उभर रहे हैं, जिनमें कुछ बातें कहने को तो हैं, किन्तु उन्हें कह ही डालते हैं राई रत्ती-बिम्ब या प्रतीक से नहीं, सीधे-सीधे। जब कभी बिम्ब या प्रतीक उनके मन में उभरता भी है तो वे उन्हें रूपक के रूप में प्रयुक्त कर देते हैं और फिर बात तथ्य-कथन प्रणाली पर ही आकर रुक जाती है। ऐसा इसलिए होता है कि कोई कथ्य उनकी अनुभूतियों को चीरता हुआ नहीं उभरता, जो अपनी तीव्रता में अपने से संबद्ध बिम्ब के माध्यम से ध्वनित हो उठे, बल्कि वे सतह पर फैले हुए तथ्यों को बटोरते हैं।

ये नयी कविता की सीमाएं और खतरे हैं। किन्तु जो नयी कविता के प्रतिष्ठित कवि हैं या जो नयी कविता की प्रतिष्ठित कविताएं हैं, मैं उनकी परीक्षा की बात कर रहा था। यह सत्य है कि नयी कविता का स्वस्थ रूप अनुभूति और बोध की तीव्रता और सच्चाई लिये हुए हैं। उसमें सौंदर्य और अनुभूति के बारीक से बारीक नये स्तर उभरे हैं। किन्तु सभी कविताएँ काव्य की छवि नहीं प्राप्त कर सकी हैं। सभी में प्रभाव की तीव्रता नहीं हैं, शायद इसलिए कि उनमें 'कम्पेक्टनेस' नहीं हैं। बातें कही गयी हैं, किन्तु सभी बातें मिल कर एक अन्विति की ओर नहीं उन्मुख होतीं। इसलिए बहुत सी प्रसिद्ध नयी कविताएँ पढ़ कर हम कुछ महसूस नहीं कर पाते। उनमें जो उपादान हैं उनका संगठन नहीं है. या आवश्यकता से अधिक उपादान हैं। दूसरी बात यह है कि बहुत सी विख्यात कविताओं में चित्र-विधान या बिम्बविधान के स्थान पर कथन-पद्धति अपनायी गयी है. लगता है, कवि भी कबीर की तरह ज्ञान, चिन्तन या अनुभूति का कोई निष्कर्ष तथ्य के रूप में सामने रख रहा है। अज्ञेय की निम्न लिखित कविता नयी कविता या यों कहिये कि नये युग के दर्शन की बोधक है। लेकिन कविता की दृष्टि से यह सुन्दर उपलब्धि नहीं कहीं जा सकती। यह एक समग्रफल नहीं है, जिसके रेशे रेशे में रस भीना हुआ हो और उसकी लाली बाहर छलक रही हो बल्कि यह फल को निचोड़ कर निकाला गया उसका रस है। यानी कविता नहीं है, कविता का निचोड़ हैं। निचोड़ या सत्य के रूप में यह बड़ी सशक्त वस्तु है किन्तु कविता की सी संवेदना या सौन्दर्य-चेतना जगाने की शक्ति इसमें नहीं है।

अच्छे
अनुभव की भट्ठी में तपे हुए कण दो कण

अन्तर्दृष्टि के
झूठे नुस्खे, वाद रूढ़ि उपलब्धि परायी के प्रकाश से
रूप-शिव रूप-सत्य की सृष्टि के

इस कविता में इसी कोटि और स्वभाव के कई सत्य-खण्ड अलग-अलग रख दिये गये हैं। वे अपने-अपने में पूर्ण हैं। किसी को निकाल दिया जाए तो कविता अधूरी नहीं रहेगी और कुछ जोड़ दिया जाए तो भी कोई फरक नहीं पड़ेगा। ऐसे सिद्धान्त-कथन अज्ञेय में काफी दिखाई देते हैं। अज्ञेयजी ही क्यों, अन्यों, में भी दिखायी पड़ते हैं। जैसे शमशेर की बहुत प्रसिद्ध कविता 'बात बोलेगी हम नहीं' भी तो सत्य कथन मात्र है-मात्र गद्य।

बात बोलेगी
हम नहीं
भेद खोलेगी
बात ही
सत्य का मुख
झूठ की आँखें क्या देखें
सत्य का रुख समय का रुख है
अभय जनता को सत्य ही सुख है
सत्य ही सुख

यह सत्य-कथन जब, किसी कथा-काव्य में किसी पात्र के संवाद के रूप आता है तो उसका दूसरा स्वरूप होता है। वह मात्र निचोड़ नहीं होता। उस पात्र के समस्त व्यक्तित्व को हम देखते आते हैं और उसका सत्य-कथन अलग से कहा हुआ निचोड़ न हो कर उसके समस्त व्यक्तित्व के साथ जुड़ा हुआ होता है। किन्तु कवि जब कहता है, तो लगता है, वह अपने सारे अनुभवों और चिन्तन का निचोड़ कह रहा है। जैसे 'अँधायुग' 'संशय की एक रात' में यदि कोई पात्र कुछ निष्कर्ष के रूप में कहता है तो हम देखते हैं कि उसका निष्कर्ष उसके उस अन्तरमंथन से संपृक्त है, जिसे हम अभी देख रहे थे और 'देख रहे हैं। वह सत्य-कथन अनासक्त ज्ञानी का सत्य-कथन नहीं मालूम पड़ता, बल्कि एक भोक्ता के अनुभव की आँच प्रतीत होती है। कविता-अकविता की चर्चा करते समय इस बात को भूलना नहीं होगा। कहा जा चुका है कि अज्ञेय में संवेदना का, शिल्प का, वैविध्य है। इस लिए संवेदनापूर्ण बिम्बों की इनके यहाँ कमी नहीं है।

इनकी अनेक छोटी-छोटी कविताएँ ली जा सकती हैं, जो मन के भीतर एक प्रभाव उभारती हैं।

उड़ गई चिड़िया
कांपी, फिर
थिर
हो गई पत्ती

छोटे से चित्र में कई सम्बद्ध व्यापार बिम्ब के माध्यम से उतरते और मन पर लकीर खींचते चले जाते हैं। यह एक कम्पैक्ट चित्र है अपने प्रभाव में अन्वित। मगर जब वे एक सफल बिम्ब देकर खुलासा के लिए कोई वाक्य जोड़ देते हैं, तो लगता है उसकी आवश्यकता नहीं थी।

यह पगडण्डी
चली लजीली
इधर उधर अटपटी-चाल से नीचे को, पर
वहाँ पहुँच कर घाटी में खिलखिला पड़ी
कुसुमित उपत्यका

मुझे लगता है पगडण्डी के खिलखिला पड़ने से ही कुसुमित उपत्यका का बोध हो जाता है। कुसुमित उपत्यका कहने की क्या आवश्यकता थी? इस वाक्य से कविता की तीव्रता क्षीरण हो जाती है। इस दृष्टि से विचार किया गया तो नयी कविता के मूर्धन्य कवियों की भी (जिन्होंने छायावाद पर स्फीति और अभिव्यक्ति के उपकरणों के अपव्यय का दोषारोपण किया है) बहुत-सी कविताएँ ऐसी दिखाई पड़ेंगी जो अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति की ताजगी के बावज़ूद सफल कविता बनते-बनते रह गयी हैं। लेकिन अज्ञेय से ले कर नवीनतम कवियों तक की कविताओं में बहुत-सी रचनाएँ ऐसी मिलेंगी जो अनुभूति में, बोध में, दृष्टि में, अभिव्यक्ति में ताजा तो हैं ही, सफल भी हैं। और इस आधार पर कहा जा सकता है कि नयी कविता ने न केवल काव्य-संभावनाओं के द्वार खोले हैं, वरन् उपलब्धियाँ भी प्रदान की हैं।

अज्ञेय

भग्नदूत और चिंता की छायावादी कविताओं से अपनी काव्य-यात्रा आरम्भ करने वाले अज्ञेय प्रयोगवाद और नयी कविता के विशिष्ट कवि हैं। इस धारा के कवियों में अज्ञेय का स्वर सबसे अधिक वैविध्यपूर्ण है। उनका

स्वर ग्रहं से लेकर समाज तक, प्रेम से लेकर दर्शन तक, ग्रादिम गंध से लेकर विज्ञान की चेतना तक, यंत्र सभ्यता से लेकर लोक-परिवेश तक, यातना-बोध से लेकर विद्रोह की ललकार तक, प्रकृति सौन्दर्य से लेकर मानव सौन्दर्य तक फैला हुग्रा है। यह बात ग्रौर है कि इस व्याप्ति में सर्वत्र संवेदनशीलता या ग्रनुभूति साथ नहीं देती, कहीं कहीं कोरी बौद्धिकता या शुष्क बोध उभर ग्राता है।

तार सप्तक की कविताग्रों के साथ ग्रज्ञेय की नयी काव्य-यात्रा प्रारम्भ होती है जो बाद में इत्यलम् में संगृहीत दिखाई पड़ती हैं। ग्रज्ञेय में संवेदना के साथ एक सजग बौद्धिकता है यह बौद्धिकता उनकी संवेदना को नियंत्रित तो करती ही है साथ ही साथ कभी नवीन सूक्तियों के रूप में (जैसे दुःख सब को माजता है या ग्रच्छा खंडित सत्य सुघर नीरंध्र मृषा से ग्रादि कविताग्रों में) कभी व्यंग्य के रूप में (जैसे सांप) कभी युग-चिंतन ग्रौर बोध के बिम्ब विधान के रूप में भी व्यक्त होती है जो संवेदना या ग्रनुभूति से ग्रंतरंग भाव से जुड़ी न होने के कारण बिम्ब-रचना के बावज़ूद बहुत दूर तक प्रभावहीन हो जाती है। ग्रज्ञेय की कविताग्रों में जो स्वर-वैविध्य दिखाई पड़ता है उसका कारण बहुत कुछ उनकी बौद्धिकता है। यही बौद्धिकता ग्रज्ञेय में लक्षित होने वाली काम-भावना को रूमानी होने से बचा लेती है उसे बहुत संयत ग्रौर सांकेतिक ढंग से व्यक्त होने देती है जबकि माथुर, भारती ग्रादि में वह काम-भावना स्पंदित होकर फूटती है। ग्रज्ञेय की काम-भावना कुंठा ग्रौर ग्रंथि बन कर ग्रवचेतन के स्तर पर स्थित रहती है इसलिये उसमें बहुत जटिलता तथा सूक्ष्मता लक्षित होती है। कवि इसे सीधे सीधे न व्यक्त कर प्रकृति-परिवेश में प्रस्तुत करता है, प्रकृति के समानान्तर बिम्बों से इसे सांकेतिक ग्रभिव्यक्ति देता है। सावन मेघ, जैसे मुझे स्वीकार हो, चेहरा उदास चरण पर धर चरण ग्रादि कविताएँ इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं।

संवेदना ग्रौर बौद्धिकता की यह सहयात्रा जहां रूमानी परंपरा को तोड़ कर नये सौन्दर्यबोध से सम्पन्न स्वस्थ काव्य की सृष्टि करती है वहीं बौद्धिकता का ग्रतिरेक शुष्क, दुरूह ग्रौर नव रहस्यवादी कविता को जन्म देता है। लगता है कि कवि व्यर्थ में ही छोटी सी संवेदना को बड़े से व्यूह में घेर रहा है या कोई बात कहने के लिए बौद्धिक प्रतीकों ग्रौर बिम्बों का ग्रम्बार खड़ा कर रहा है। इस प्रकार की कविताग्रों का नंगापन शुरू में तो उतना नहीं खुलता क्योंकि यौवन में कुछ न कुछ संवेग ग्रौर ताजगी होती है किन्तु बाद में 'मैं

वहां हूं, और 'असाध्य वीणा' जैसी-कविताओं में उभर कर सामने आ जाता है और कविता अपनी सारी दार्शनिक गरिष्ठता के बावजूद प्रभावहीन कृति बन कर रह जाती है तथा एक बौद्धिक रहस्यवाद की सृष्टि कर देती है।

कवि बहुत कुछ कहना चाहता है, वह अपने को समाज के अनेक सत्यों से जोड़ना चाहता है किन्तु उसका अहम् बहुत बलवान है, वह अपनी सत्ता का लोप कहीं नहीं चाहता किन्तु कवि के अहम् का भोग बहुत सीमित है इसलिए वह जितना कुछ अपने अहम् के भोग को केन्द्र में रख कर कहता है उतना प्रामाणिक होता है और प्रभाव पैदा करता है किन्तु उस केन्द्र से हट जाने पर वह जो कुछ देता है वह विराट भले हो, वैविध्यपूर्ण भले हो विश्वसनीय नहीं लगता। किन्तु कवि है जो अपने अहं की उत्कट अद्वितीयता और परिवेश-जीवन के साथ तादात्म्य दोनों बनाये रखना चाहता है। इसलिए वह अविश्वसनीय ढंग से संसार में सर्वत्र काम करने वालों की व्यथा का समभागी बनने की घोषणा करता है (देखिए 'मैं वहां हूं')।

अज्ञेय की छोटी छोटी कविताएं सौंदर्य और प्रभाव की सृष्टि की दृष्टि से बहुत ही विशिष्ट और सक्षम हैं—वे चाहे व्यंग्य करती हों, चाहे कोई सौन्दर्य या अनुभव जगाती हों, चाहे रूप की अभिव्यक्ति करती हों। अज्ञेय ने (बौद्धिक स्तर पर ही सही) आधुनिक बोध के अनेक आयामों को उद्‌घाटित किया है, सौन्दर्य, नैतिकता, मृत्यु, अनुभव के संक्रान्त रूप को पहचाना है तथा स्वर दिया है। आधुनिक नागरिक जीवन की नियति को भोगा और उभारा है। अज्ञेय की छन्द रचना और बिम्ब रचना में बड़ा वैविध्य, ताजगी और सूक्ष्मता है कवि ने परंपरित उपमानों और प्रतीकों को न केवल तोड़ा है बल्कि उन्हें बौद्धिक आसंग दिया है। किन्तु कवि के अभिव्यक्ति पक्ष का जो सबसे बड़ा दोष है वह है बड़ी बड़ी विशेषण-मालाओं का प्रयोग। 'यह दीप अकेला' इसका सबसे भद्दा उदाहरण है। बिम्व-रचना के साथ विशेषण बाहुल्य मेल नहीं खाता। अतिशय विशेषण अभिव्यक्त-शक्ति की असमर्थता के द्योतक हैं। अज्ञेय की भाषा के कई रूप हैं। एक रूप वह है जो जीवन की अनुभूतियों की सहजता के कारण सहज है, लोक-शब्दों, लोक-प्रतीकों से युक्त है तथा सहज प्रवाहमय है। दूसरा रूप वह है जो असहज प्रलंवित वाक्यों और विशेषण-मालाओं से गुंफित तथा क्लिष्ट पदों से बोझिल है। भाषा कहीं अभिजात है कहीं लौकिक।

गिरिजाकुमार माथुर

माथुर साहब में प्रयोग और संवेदना का बहुत सुन्दर सामंजस्य है अर्थात् प्रयोग कहीं भी बौद्धिक भंगिमा या फैशन के वशीभूत होकर नहीं आया है, वह इनकी अनुभूतियों और संवेदनाओं के सूक्ष्म कोणों, रंगों और प्रभावों को व्यक्त करने की आकुलता से जुड़ा हुआ है। कवि ने छन्द, भाषा और बिम्बविधान सभी में प्रयोग किये हैं। छन्द तो प्रायः सर्वत्र लययुक्त हैं, नवीनता इसमें है कि कवि ने कहीं कहीं सवैया को तोड़ कर नया छन्द-रूप दिया है। इस प्रयोग के साथ एकरसता भी दर्शनीय है अर्थात् तारसप्तक में संगृहीत अधिकांश कविताओं का छन्द एक ही है। भाषा में अभिव्यक्ति के नये नये कोण उभरे हैं और बिम्ब-विधान में कवि ने नये नये सूक्ष्म बोधों और प्रभावों को बहुत प्रभावशाली ढंग से रूपायित किया है।

माथुर के काव्य के दो स्वरूप है 'मंजीर' और 'तार सप्तक' में उनकी व्यक्तिगत अनुभूतियां हैं किन्तु 'नाश और निर्माण' 'धूप के धान' तथा 'शिलापंख चमकीले' में सामाजिक जीवन की अनुभूतियां और यथार्थ उभरते गये हैं। 'तारसप्तक' में जीवन-यथार्थ के नये आयाम उद्घाटित नहीं किये गये हैं। वे अपने परिवेश के जीवन-सत्यों से भी जुड़े नहीं प्रतीत होते, उनकी संवेदना अत्यन्त रूमानी प्रतीत होती है। प्रकृति की रंगमयता, उसकी उदासी, सौन्दर्य-प्यास, प्रेम-प्रसंगो की स्मृतियों का दंश, सुन्दर वातावरण में साथी-विहीन अकेलेपन का बोध आदि इनके अनुभव और संवेदना के अंग हैं। इनके रचना-लोक में विभिन्न रूप-रंगों में, ध्वनियों, गंधों और स्पर्शों में इन्हीं के दर्शन होते हैं। वह चाहे 'आज हैं केसर रंग रंगे वन' हो चाहे 'रेडियम की छया' हो, चाहे 'क्वार की दोपहरी' हो, चाहे 'भीगा दिन' हो, सर्वत्र इसी स्वर की प्रधानता है। इन सीमित जीवन-अनुभवों को लेकर भी श्री माथुर एक विशिष्ट कवि हैं, क्योंकि वे सीमित जीवन- अनुभवों की बहुत गहरी और सूक्ष्म छायाओं को पहचानते हैं। इसलिए रूमानी कविता की परिपाटी के शिकार न होकर या सतही कैशोर भावुकता से आक्रांत न होकर एक विशिष्ट रचना-लोक निर्मित कर लेते हैं। दूसरी बात यह है कि माथुर कुशल शिल्पी भी हैं। अपने अनुभव-जगत को रूप देने के लिए वे कुशल, सूक्ष्म बिम्बों की रचना कर लेते हैं जिनमें ध्वनि, गंध, स्पर्श, रूप आदि के सूक्ष्म संश्लिष्ट बोध मूर्त हो उठते हैं। इस क्षेत्र में पंत के पश्चात् माथुर का योगदान विशिष्ट है। माथुर की बिम्ब-

संरचना में सूक्ष्म रूप से मुक्त साहचर्य अवश्य रहता है किन्तु पूरी कविता एक प्रभाव में पगी होती है।

'नाश और निर्माण' में तार सप्तक वाली कविताएं तो संगृहीत हैं ही, साथ ही साथ ऐसी कविताएं भी हैं जो सामाजिक चेतना से अनुप्राणित हैं। इन कविताओं में तथा अन्य परवर्ती कविताओं में शक्ति, उल्लास और सामाजिक जीवन का स्पंदन है, पूंजीवाद और साम्राज्यवाद के रूप और विषम परिणामों का तीव्र अहसास तथा उनके विरुद्ध समाजवादी चेतना का प्रसार है। कवि क्रमशः लोक परिवेश, वर्तमान वैज्ञानिक उपलब्धियों और अपनी सांस्कृतिक परंपरा से जुड़कर अपनी अनुभूति, सौन्दर्यदृष्टि और चिन्तन में समृद्ध होता गया है—'दियाधरी' तथा 'पृथ्वीकल्प' जैसी परवर्ती कृतियां कवि की इसी यात्रा-क्रम की कविताएं हैं। कहा जा सकता है कि माथुर का अपना विशिष्ट काव्य-व्यक्तित्व है। कवि चाहे निजी रागबोध को व्यक्त कर रहा हो, चाहे सामाजिक जीवन-चेतना को, चाहे नागरिक जीवन की यांत्रिक यातना और अकेलेपन को स्वर दे रहा हो, चाहे लोक जीवन की सामूहिक गति को, सर्वत्र संवेदना की प्रधानता रहती है। अनुभवों की सूक्ष्म-छायाओं और विराट गतियों, दोनों की सही अभिव्यक्ति की आकुलता से जुड़े रहने के कारण इनके प्रयोग सर्वत्र अपनी रचनात्मक सार्थकता बनाये रखते हैं। हां इतना अवश्य कहा जा सकता है कि जीवन की विराटता की रचना कवि के सजग समय बोध से जितना सम्बन्ध रखती है उतना उसके अनुभव-व्यक्तित्व से नहीं। इनकी इधर की कविताओं (जो 'जो नही बँध सका' में संगृहीत हैं) में आज के समय का अरूमानी स्वर उभरा है जिसमें अकविता का कवि बनने का एक कच्चा आग्रह भी है और आज के सामाजिक परिवेश की गहरी विसंगति का एक कुशल उदघाटन भी।

गजानन माधव मुक्तिबोध

अपनी पूरी-पीढ़ी में मुक्तिबोध का व्यक्तित्व विशिष्ट है। इस पीढ़ी और इसी से लगी हुई परवर्ती पीढ़ी के लगभग सारे महत्वपूर्ण कवि (अज्ञेय गिरिजा कुमार माथुर, शमशेर, भारती आदि) रूमानी कविता से अलग हट कर नया प्रयोग करने का प्रयत्न करते हुए भी रूमानी संवेदना और भाषा से मुक्त नहीं हो सके बल्कि यों कहा जाय कि बहुत हद तक रूमानियत उनके काव्य-सर्जन के केन्द्र में रही। परम्परागत रूमानी धारा से इन कविताओं को अलग करने वाली है अनुभव की अतिशय प्रामाणिकता, निजता, आदर्श-मुक्त

यथार्थता और अभिव्यक्ति में नये-नये प्रयोगों की आकुलता। किन्तु मुक्तिबोध एक ऐसे कवि हैं जिनका अनुभव जगत बहुत व्यापक है, जो अपने परिवेश के जीवन से बहुत गहन भाव से जुड़े हुए हैं। अनुभव की व्यापकता और परिवेश-जीवन से गहन सम्बद्धता कवि को रूमानी भूख प्यास के सीमित दायरे से बाहर निकाल कर विविध छवियों, प्रश्नों और संवेदनाओं से भरे जीवन के बीच ला खड़ा करती है। कवि की प्रगतिवादी दृष्टि उसके परिवेश-बोध, सामाजिक चिन्तन और अनुभव वैविध्य को और बल देती है। अतः कहा जा सकता है कि बाद में जीवन की बहुविध छवि को लेकर विकसित होने वाली नयी कविता के अग्रज कवि सच्चे अर्थों में मुक्तिबोध ही हैं। मुक्तिबोध की सबसे बड़ी शक्ति है उनका व्यापक जीवन अनुभव तथा लोक-परिवेश से गहरी संपृक्ति और कमजोरी है शिल्प के प्रति असावधानता। शिल्प के प्रति असावधानता उनके अनुभव-खंडों को एक में बांध नहीं पाती और बिम्बों की रचना में संश्लिष्टता तथा सघनता नहीं भर पाती। बिम्ब टूट बिखर जाते हैं, कहीं कहीं उनमें सपाट अभिधात्मक कथन उभर आता है तथा कहीं कहीं प्रगतिवादी चिन्तन और धारणा का बद्ध स्वर उतरा जाता है। मुक्तिबोध की भाषा नयी कविता की भाषा की अपेक्षा परंपरित ही अधिक लगती है। किन्तु यह सारी स्थिति 'तारसप्तक' के समय तक की है परवर्ती कविताओं में ये दोष कम होते गये हैं, भाषा भी अपेक्षाकृत नयी होती गई है और विराट तथा सघन जीवन-अनुभव उनके शिल्प के शैथिल्य को अपने में आत्मसात करता गया है फिर भी लम्बी-लम्बी कविताओं में प्रभाव की गठन की जगह पर प्रभाव का बिखराव ही अधिक लक्षित होता है जैसे अनुभवों के बड़े बड़े शिलाखण्ड एक दूसरे से असम्बद्ध यहां से वहां तक पड़े हुए हैं—यह दूसरी बात है कि इस असम्बद्ध सम्बद्धता का भी एक सौन्दर्य है। मुक्तिबोध बहुत दिनों तक हिन्दी समीक्षा की उदासीनता के शिकार रहे फिर मरणोपरान्त एकाएक उछाले जाने लगे और मुझे लगता है कि इस आपाधापी में मुक्तिबोध का इस्तेमाल एक साहित्यिक राजनीति के रूप में किया जाने लगा है। हर आदमी असंतुलित होकर उनका जयजयकार करने लगा। इसलिए उनके सही मूल्यांकन के अनुकूल स्थिति नहीं पैदा हो सकी। मुक्तिबोध में फैन्टेसी है अर्थात् एक जादुई कथा में आधुनिक जीवन-अनुभवों की अभिव्यक्ति है। लगता है कि पाठक किसी जादुई लोक में घूम रहा है जहां रह रह कर दृश्य बदलते हैं, तरह तरह के विचित्र व्यापार दिखाई पड़ते हैं, रह रह कर जादुई चमत्कार

होते हैं और पाठक भय, घृणा, आक्रोश, यातना, आत्महीनता, शक्ति के मिले जुले अनुभव-लोक से गुजरने लगता है। वास्तव में यह सारा जादुई लोक इसी मिले जुले आधुनिक जीवन अनुभव की अभिव्यक्ति के लिए रचा गया काव्य-लोक है। 'अंधेरे में' 'ब्रह्मराक्षस' कविताएं इस दृष्टि से अत्यधिक उल्लेखनीय कविताएं हैं। मुक्तिबोध सामाजिक जीवन यथार्थ के कवि हैं, वे इस यथार्थ को अपने अनुभव का अंग बनाकर व्यक्त करते हैं। उनका अनुभव वर्ग-सिद्धांतों से नहीं, संघर्षमय जीवन-भोग से निर्मित है। उनके इस संघर्षमय जीवन में पीड़ा है, पराजय है, सामाजिक विकृतियों का तीखा बोध है किन्तु लगता है कवि अंधकार में अकुलाता हुआ भी प्रकाश की खोज से हारा नहीं है। यह प्रकाश ऊपर से नहीं बरसता, अपनी आत्मा की पीड़ा से ही फूटता है, विवेक-दृष्टि से दिखाई पड़ता है। 'अंधेरे में' कविता में रह रह कर इसी विवेक दृष्टि और आत्म-प्रकाश की चमक कौंध उठती है। इसीलिए मुक्तिबोध में अनुभूति केवल एक व्यक्तिगत संवेदन के स्तर की नहीं है वह अपने परिवेश से गहरे जुड़ी है और अनेक आवर्तों से लिपटी है तथा कवि की आलोचक दृष्टि इन अनुभवों की रचनात्मक संदर्भ में लक्षित होने वाली सार्थकता और निरर्थकता की जांच करती चलती है। मुक्तिबोध के काव्य-लोक की अंतरंग परीक्षा करने पर ये सारी बातें विश्लेषित कर पायी जा सकती हैं किन्तु मुझे लगता है कि ये कविताएं कुल मिलाकर वह प्रभाव नहीं छोड़तीं जिसके लिए इनकी सारी तैयारी होती है अर्थात् इनका जितना दवाब हमारी बोध-चेतना पर होता है उतना महसूस करने वाली चेतना पर नहीं।

भवानी प्रसाद मिश्र

ये सहज संवेदना के कवि हैं। कवि की संवेदना कहीं बहुत सूक्ष्म और आत्मगत है जैसे 'कमल के फूल', 'वाणी की दीनता', 'टूटने का सुख' आदि में, कहीं बहुत प्रत्यक्ष और परिवेश संपृक्त है जैसे 'सतपुड़ा के जंगल', 'सन्नाटा', 'गीत फरोश' आदि कविताओं में। कवि की अभिव्यक्ति भी बहुत सहज है यद्यपि वह नयी कविता की प्रतीकात्मकता और बिम्बधर्मिता से संयुक्त है। कवि की सहजता सघन अनुभूति तथा संयत अभिव्यक्ति के क्षणों में जहां अत्यन्त सुन्दर काव्य की सृष्टि करती है वहीं फारमूलाबद्ध आदर्शवादिता, अनुभूति के सतहीपन तथा अभिव्यक्ति के तुकान्तवादी विस्तार की अवस्था में सामान्य काव्य की। 'असाधारण' और 'स्नेह शपथ' जैसी उनकी काफी कविताएं हैं जो सामान्य हैं।

मिश्र जी में लोक जीवन की अनुभूति है अतः उनकी सहजता में लोक जीवन का वेग और सघनता लक्षित होती है। उनकी भाषा और अभिव्यक्ति में भी लोक जीवन का प्रभाव है। 'गीत फरोश' 'सतपुड़ा के घने जंगल', 'मंगल-वर्षा' आदि कविताएं लोक जीवन की सघन बेगवान सहजता के उदाहरण हैं।

शमशेर बहादुर सिंह

विचारों से मार्क्सवादी शमशेर बहादुर सिंह संस्कारों से व्यक्तिवादी और अनुभवों से रूमानी हैं। उनका व्यक्तिवादी संस्कार. उन्हें मध्यवर्गीय व्यक्ति की अनुभूति को अभिव्यक्त करने को प्रेरित करता है। उनके अनुभव रूमानी हैं अर्थात् उनकी अधिकांश कविताओं का स्वर कुंठित प्रेम का है। इस कुंठित प्रेम तथा शरीर-सौन्दर्य को कवि छायावादियों से भी अधिक छल के साथ व्यक्त करता है। यह छल है उसका अत्यंत सूक्ष्म प्रतीक-विधान और खंडित बिम्ब-योजना। कवि का यह नवीन अभिव्यक्ति-छल ही उसे छायावादी परंपरा से अलग करता है। संवेदना और अभिव्यक्ति-दोनों में ये प्रयोगवाद की अतिशय व्यक्तिवादिता के प्रतीक हैं। इनकी अतिशय व्यक्तिवादिता केवल अपने प्रति प्रतिवद्ध होने के कारण पाठकों की समझ की उपेक्षा कर जाती है और ऐसे ऐसे महीन जाल बुनती है तथा खंडित बिम्बों की योजना करती है कि पूरी कविता अपने अभिप्रेत प्रभाव के साथ-उभर नहीं पाती। शमशेर वहुत सूक्ष्म सौन्दर्य बोध के कवि माने जाते हैं किन्तु कठिनाई यह है कि सौन्दर्य यहां वहां की कुछ पंक्तियों में अलग अलग ढंग से उभरकर रह जाता है। यहां तक कि 'वसन्त पंचमी की शाम', माई जैसी विषयावलंवित कविताएं भी आत्म-प्रवंचना की उलझन में खो जाती हैं। शमशेर की कथन-संक्षिप्ति (ब्रेभिटी) उपलब्धि तव मानी जा सकती है जब वह अपनी व्यंजनाशक्ति को कहीं भी आहत किये बिना औरों के भीतर और तीव्र वेग से उतर सके। स्पष्ट है कि ऐसा नहीं हो पाता। मुक्त आसंग, चेतना प्रवाह, अमूर्त चित्रात्मकता, शब्द संगीत आदि शमशेर के शिल्प को एक एक नया रूप अवश्य देते हैं किन्तु उन्हें अनुभव-लोक को मूर्त करने के स्थान पर उलझा देते हैं। सच पूछिए तो ये कविताएँ पाठक के मन में एक अनुभव—संसार मूर्त करने के स्थान पर एक अरूप प्रभाव छोड़ती हैं। एक गूंज मात्र। इसलिए इन कविताओं को आज की यथार्थ चेतना का काव्य कहने के स्थान पर प्रभाव वादी काव्य कहना समीचीन होगा।

नरेश मेहता

नरेश मेहता गीतात्मक संवेदना के कवि हैं। प्रकृति-सौन्दर्य ग्रौर प्रेम कवि के प्रिय विषय हैं। इन दोनों के बहुत ताजे चित्र कवि ने दिये हैं। इन चित्रों में कवि की संवेदना ग्रौर लोक-परिवेश दोनों का बहुत सुन्दर सामंजस्य है। प्रतीक ग्रौर बिम्ब बहुत नये, खुले हुए तथा परिवेश से लिये गये हैं। गीत में गीतेतर कविताग्रों का सा लोक-परिवेश ग्रौर गीतेतर कविताग्रों में गीत की सी ग्रात्मीयता नरेश मेहता की कविताग्रों में दिखाई पड़ती है। 'किरणधेनुएं', उषा सम्बन्धी चार कविताएँ, 'जन गरबा', 'ग्रश्वकी वलगा ग्रादि गीतों में सांस्कृतिक, लौकिक ग्रौर प्राकृतिक परिवेश तथा बिम्बों की ताजगी ग्रौर जीवंतता दर्शनीय है। तथा 'चाहता मन', 'ग्रहं' जैसी कविताएं गीतात्मक ग्रंतरंगता से ग्रनुप्राणित हैं। नरेश की भाषा ग्रपने ग्राप में नयी कविता की भाषा नहीं कही जा सकती, उसमें बहुत दूर तक छायावादी प्रभाव है किन्तु परिवेश प्रतीक, बिम्ब ग्रादि से जुड़कर समग्र रूप में नयी दीखती है। नरेश विचारों से मार्क्सवादी हैं इसलिए उन्होंने 'समय देवता' जैसी एक बहुत लम्बी कविता भी लिखी है जिसमें पूरे विश्वके परिवेश में ग्राज के समय का चित्रण किया गया है। पूरी कविता ग्रछूते बिम्बों की एक लम्बी शृंखला है वह जितना ऐतिहासिक ग्रौर भौगोलिक चित्र उभारती है उतना मानवीय संवेदना का लोक नहीं।

धर्मवीर भारती

वास्तव में भारती की काव्योपलब्धियां उनकी परवर्ती कृतियों 'ग्रंधा युग', 'कनुप्रिया' ग्रौर 'सात गीत वर्ष' में दिखाई पड़ती हैं। ग्रारम्भ की कविताएं बहुत कुछ कैशोर भावुकता से ग्राक्रान्त हैं। भारती की इन कविताग्रों की मूलवृति रूमानी ही है। प्रेम ग्रौर सौन्दर्य की भावुक प्रतिक्रिया को कवि ने ग्रधिक मांसल ढंग से, नये उपमानों, लक्षणाग्रों ग्रौर प्रतीकों द्वारा चित्रित किया है। इन प्रेम गीतों में प्रेम ग्रौर सौन्दर्य के गहन संश्लिष्ट रूप को पहचानने के स्थान पर उनके उच्छल प्रवाह में बहने की ही प्रवृत्ति ग्रधिक दिखाई पड़ती है। 'गुनाह का गीत' 'गुनाह का दूसरा गीत', ,तुम्हारे पांव मेरी गोद में', 'उदास तुम' ग्रादि कविताएं किसी भी तरह प्रेम के नये ग्रायाम को नहीं छूतीं। भारती में ग्रादिम गंध की तड़प ग्रौर लोक जीवन की रूमानी छवि की पकड़ है। इसलिए इनकी कविताएं मूलतः गीतात्मक हैं।

इन कविताओं में लोक परिवेश की मस्ती और उल्लास के स्थान पर उदासी, और सूनापन ही अधिक उभरता है शायद इसलिए कि भारती में उदासी का बहुत आत्मीय राग व्याप्त है। इन तत्वों का जहां बहुत सुन्दर रूप में उपयोग हुआ है वहां 'फागुन की शाम' जैसा सुन्दर गीत निर्मित हो सका है। उदासी और टूटन इनके परवर्ती काव्यों में भी प्रधान रही है। किन्तु वह टूटन और उदासी गहन मानसिक स्थितियों, व्यापक परिवेश और एक चिन्तनपूर्ण दृष्टि से सम्पन्न होने के कारण स्वस्थ काव्य का निर्माण करती है। आरम्भ में भी 'जाड़े की शाम' जैसी कविता देखने को मिलती है जिसमें कैशोर मावुकता के स्थान पर सुन्दर बिम्बों के माध्यम से एक गहरी मनस्थिति अंकित की गई है। इन कविताओं के अतिरिक्त जो कविताएं हैं उनका स्वर प्रेम का नहीं है, उनमें कला और निर्माण सम्बन्धी कुछ बातें उठाई गई हैं—जैसे 'थके हुए कलाकार से' 'कवि और कल्पना' 'कविता की मौत'। किन्तु इनमें भी चिन्तन, संश्लिष्ट अनुभव और समस्या की मौलिक पकड़ के स्थान पर कुछ प्रगतिवादी-उपदेशवादिता और बद्ध अवधारणात्मकता ही दृष्टिगत होती है। प्रकारांतर से इनमें भी कैशोर भावुकता ही अधिक है। भारती के काव्य की एक बहुत बड़ी विशेषता है उसकी मूर्तता और पारदर्शिता जो उनके परवर्ती गंभीर और चिन्तन संबलित काव्यों में भी लक्षित होती है। जिन रूमानी संवेदनों को लेकर शमशेर दुरूहतम हो जाते हैं उन्हीं को भारती अधिक संश्लिष्टता और प्रत्यक्षता के साथ प्रभावशाली ढंग से उभारने में सफल हो जाते हैं। 'सात गीत वर्ष की कविताओं में कवि की रूमानी भावुकता ने यथार्थ की गहराई पाली है, बहुत सी कविताएं यहां भी प्रेममूलक हैं किन्तु यहाँ प्रेम के बहुत सूक्ष्म संक्रान्त अनुभवों को उभारा गया है। इसमें कुछ व्यंग्यात्मक कविताएँ भी हैं जो किसी सांस्कृतिक, सामाजिक या राजनीतिक विसंगति पर हलका हलका आघात करती हैं। मूल्यों सम्बन्धी प्रश्न भी उभारे गये हैं किन्तु मानव संवेदना की आंच में।

७

नए प्रबन्ध काव्य

७. नए प्रबन्ध काव्य

कहा जाता है कि आज का युग प्रबन्ध काव्य का युग नहीं है। शायद इसका कारण यह है कि प्रबन्ध-काव्य के पीछे जो मान्यताएं रही हैं, वे चुक गई हैं। यानी प्रबन्ध-काव्य का पूर्वमान्य स्वरूप आज के युग को रूपायित करने में असमर्थ है। आज के मनोवैज्ञानिक युग में मानव-व्यक्तित्व की धारणा बदल गई है पूर्वमान्य प्रबन्धों में जो पात्र गृहीत हुए हैं वे कुछ स्वीकृत गुणों और दोषों या उनके मिश्रित रूपों के संमुंज प्रतीत होते हैं और उन गुणों या दोषों या उनके मित्रित रूपों का एक शृंखलित विकास दिखाया जाता है। दूसरी बात यह है कि वे पात्र समय के विस्तार में फैलते हैं, जहां कुछ हरियालियां हैं, कुछ शुष्क उपेक्षणीय ऊसर, कुछ मान्य महत्वपूर्ण घटनाएं हैं, प्रसंग हैं, मर्मस्पर्शी अवसर हैं और हैं महत्वहीन घड़ियां और स्थल। पात्र एक महत्वपूर्ण से दूसरे महत्वपूर्ण तक दौड़ते हैं। शेष समय और स्थान तो केवल दूरी भरने के लिये होते हैं। अतः देश और काल के विस्तार में दौड़ते हुए भी पात्र पूर्व-स्वीकृत जीवन-तीर्थों की ही यात्रा करते हैं। वे अपने भीतर की तन्मयता से हर क्षण और हर स्थल को तीर्थ नहीं बना सकते। कहना न होगा कि विगत युगों की जीवन-दृष्टियां, आदर्शवादी मान्यताएं, रसवादी रुचियां और व्यक्तित्व-सम्बन्धी प्रतीतियां प्रबन्ध काव्य के उपर्युक्त स्वरूप की रचना में सहायक होती रही हैं।

आज व्यक्तित्व और समय दोनों के सम्बन्ध में नई दृष्टियों का विकास हुआ है। मनोविलेषणवाद की धारणाओं ने मानव व्यक्ति की समस्त पूर्वमान्य धारणाओं को बदल दिया है। वह जितना अवचेतन से प्रभावित होता है उतना चेतन से नहीं और अवचेतन का लोक चेतन के लोक के समान कुछ स्पष्ट रेखाओं से निर्मित नहीं होता। वह एक गहन लोक है, जहां पता नहीं प्रकाश और अन्धकार की कितनी रेखाएं एक दूसरे को काटती, उलझाती सोई पड़ी हैं। अतः आज के मनुष्य को 'अच्छा'' बुरा' या उसके मिश्रित रूप के खाने में डालकर देखना कोई देखना नहीं है। वह गुणों या अवगुणों का गट्ठर नहीं है, बल्कि वह उस नदी के समान हैं जो कभी टेढ़ी, कभी सीधी, कभी स्वच्छ, कभी पंकिल, कभी गहरी, कभी उथली दीखती है। जो व्यक्ति

कभी उदात्त कार्य कर रहा है वही वही दूसरे क्षण अविश्वसनीय नीचता पर उतर आता है[1]। किसी पात्र को अच्छा या बुरा मानकर एक विशेष दिशा में उसका विकास दिखाना सहज नहीं है। आज का मनुष्य तो अनेक प्रकार के अन्तर्विरोधों और असंगतियों से ग्रस्त है। आज का जीवन (जिसमें सारी पुरानी नैतिक धारणाएं हिल गई हैं, सारे जीवन-मूल्य रीत गये हैं और सर्वत्र अराजकता, टूटन, विघटन-सा लक्षित होता है) इन असंगतियों को और भी गहन और व्यापक होने की अनुकूलता प्रदान करता है। कहने का अर्थ यह है कि व्यक्तित्व आज विघटित हो गया है। अतः प्रबन्ध काव्यों के मूल में अखण्ड व्यक्तियों को लेकर जो एकसूत्रता दिखाई पड़ती थी वह विच्छिन्न हो गई है। समय के सम्बन्ध में भी नये विचार उगे हैं। क्षणवादी दर्शन ने समय की मान्यता को एक नया आयाम दिया है। समय का कोई भी अंश अपने-आप में बड़ा छोटा प्रभावशाली या प्रभावहीन नहीं होता। वह हमारी गहरी संवेदनाओं से छोटा बड़ा बनता है। यदि कोई एक छोटा क्षण हमारी गहरी अनुभूति से सम्पृक्त हो उठा तो वह क्षण पूरे के पूरे समय को एक अर्थ देने में समर्थ है। यदि तथाकथित विराट समय हमारी संवेदना की तन्मयता से सम्पृक्त हुए बिना ही गुजर गया तो व्यर्थ समय विस्तार है जिसकी गणना इतिहास में हो सकती है काव्य में नहीं। दिक्काल के प्रसार में, शृंखलित विकास के प्रवाह में जी पाना आज के असंगतिपूर्ण विघटित व्यक्तित्व के लिए सम्भव नहीं है। वह अपनी विभिन्न मनःस्थितियो में गहरे क्षणों को जीता है। 'कनुप्रिया' (धर्मवीर भारती) 'आत्मजयी' (कुंवर नारायण) और कहीं-कहीं 'उर्वशी' (दिनकर) में क्षण की अनुभूतियों

---

[1] Now real people are not just good and bad: They are not even simple mixtures in which the balance of virtuous and vicious elements can be readily struck. They are not, if modern psychology is right, composed of elements, known as qualities, at all. A human being, psychology teaches, is more like a river than a bundle of qualities; running now fast, now slow, now clear, now turbid, he presents a different surface at every moment. Capable at one moment of supreme heroism, he is guilty at another of incredible meannesses.

Guide to Modern Thought:
By C. E. M. Joad

की बात कही गई है। क्षण के गहरे तन्मयतापूर्ण संवेदन जीवन के प्रसार को नये अर्थ से रंगते हुए दीखते हैं। जब कनुप्रिया की राधा युद्ध संचालक कृष्ण से पूछती है—

अच्छा मेरे महान कनु
मान लो कि क्षण भर को
मैं यह स्वीकार कर लूं
कि मेरे ये सारे तन्मयता के गहरे क्षण
सिर्फ भावावेश थे
सुकोमल कल्पनाएं थीं
रंगे हुए अर्थहीन, आकर्षक शब्द थे
मान लो कि मेरी तन्मयता के गहरे क्षण
रंगे हुए अर्थहीन आकर्षक शब्द थे
तो सार्थक फिर क्या है कनु ?

तब बहाने से विराट् इतिहास के अनुभूतिहीन विस्तार की व्यर्थता की ही ओर संकेत करती है। इसी प्रकार 'दिनकर' की उर्वशी में जब पुरुरवा कहता है—

रुको समय-सरिते। पल। अनुपल। काल-शकल। घटिकाओ।
इस प्रकार आतुर उड़ान भर कहां तुम्हें जाना है ?
कहीं समापन नहीं ऊर्ध्वगामी जीवन की गति का
काल पयोनिधि का त्रिकाल में कोई कूल नहीं है
कहीं कुण्डली मार बैठ जाओ नक्षत्र निलय में.
मत ले जाओ खींच निशा को आज सूर्य-वेदी पर।
रुको पान करने दो शीतलता शतपत्र कमल की,
एक सघन क्षण में समेटने दो विस्तार समय का,
एक पुष्प में भर त्रिकाल की सुरभि सूंघ लेने दो।

तो क्षण-सम्बन्धी आधुनिक संवेदना को ही व्यक्त करता है किन्तु जहां यह संवेदना 'कनुप्रिया' की मूल संवेदना है वहां 'उर्वशी' में बीच-बीच में आई हुई।

क्षणवादी दर्शन और विघटित व्यक्तित्वों वाली धारणा के कारण कथा या घटना-शृंखलित प्रबन्ध-काव्य लिखने का उत्साह कम दीखता है। छोटी-छोटी कविताओं में भी क्षणानुभूतियों और विघटित व्यक्तित्वों के सूक्ष्म-अन्तर्विरोधों को व्यंजित किया जा रहा है। व्यक्तित्व या विराट् समय की जो

मान्य रीढ़ थी (जो प्रबन्ध काव्यों के समस्त अवयवों को आद्योपान्त एकसूत्रता में पकड़े रखती थी) वह टूट गई है। वर्तमान युग के बिखरे और टूटे सत्यों को लेकर शृंखला-बद्ध काव्य लिखना या तो सम्भव नहीं है या बहुत कठिन है। आज की कोई भी रचना हो, हमारे सामान्य दैनिक जीवन और भीतरी व्यक्तित्व (जो अब तक उपेक्षित रहा है) के अनेक सत्यों को स्वीकार करके ही चलेगी। दैनिक जीवन की सामान्य पर गहन अनुभूतियों और व्यक्तित्व के भीतरी स्तरों को उजागर करके ही आज की रचना सार्थक हो सकती है आज के युग की सापेक्षता में जीवन के अन्य मूल्य भी बदले हैं। आभिजात्य से हटकर लघुता या सामान्यता की ओर दृष्टिपात करना आज की प्रवृत्ति है। लोकतन्त्र की स्थापना से इस प्रवृत्ति को और भी विकसित होने का बल मिला है। व्यक्ति को एक समादर प्राप्त हुआ है, रूढ़ सामूहिकता टूटी है और गतिशील सामाजिकता का विकास हुआ, है जिसमें व्यक्ति सामाजिक दायित्व नैतिकता या आदर्श का निर्जीव अंश न होकर सजीव इकाई बन गया है। अतः आज व्यक्ति के स्व और सामाजिकता का अपूर्व मिश्रण दीखता है। इसका अर्थ यह है कि प्रजा और सामान्य मानवता को शक्ति और सत्ता मिली है। कल के उपेक्षित, अपमानित और महत्वहीन जनव्यक्तित्वों को दृप्त होकर जगने का मौका मिला है।

ऊपर की समस्त चर्चाओं का निष्कर्ष यह है कि प्रबन्ध-काव्य-रचना आज की सर्जक-रुचि के अनुकूल नहीं पड़ती। यदि प्रबन्ध काव्य लिखा ही जाए तो उसे शिल्प और भाव-बोध में आज के अनुकूल होना पड़ेगा। यानी वह स्थूल मांसल कथा, सम्पूर्ण व्यक्तित्व और विराट् समय-प्रवाह की शृंखला से एकसूत्रित न होकर मनःसत्यों की सूक्ष्म-रेखाओं, चिन्तन के द्वन्द्वों, विघटित व्यक्तित्वों और क्षणानुभूतियों की प्रतीति को लेकर मुक्त साहचार्य के सूत्रों से अनुस्यूत होगी। स्वभाववतः ऐसा प्रबन्ध काव्य आकार में छोटा ही होगा। दूसरे, उसमें आज के मूल्यों, वोधों, संवेदनाओं, प्रश्नों और आकांक्षाओं की आंच होगी। इस प्रकार कथानक चाहे पुराण या इतिहास से लिया गया होगा या वर्तमान से, उसकी सांस समकालीन होगी। प्राचीन को नवीन के अनुसार पुनर्प्रस्तुत करना ही सर्जन-कर्म है। हम देखते हैं कि आधुनिक काल में जितते अच्छे प्रबन्ध काव्य लिखे गए हैं उनमें अतीत में वर्तनान का प्रक्षेपण किया गया है। आधुनिक जीवन-मूल्यों की खोज अतीत में भी की गई है और सर्जन के स्तर पर अतीत को अर्थमत्ता प्रदान करने के लिए वर्तमान का प्रक्षेपण उसमें करना ही होगा।

स्वाधीनता के बाद लिखे हुए प्रबन्ध काव्यों में उपर्युक्त विशेषताएँ कमोबेश मात्रा में लक्षित होती हैं। वास्तव में परम्परावादी शिल्प और धारणाओं का अनुगमन कर प्रबन्ध लिख लेना बहुत आसान है और स्वाधीनता के बाद भी ऐसे घ्राण-प्राण रहित प्रबन्ध काव्यों की कमी नहीं है। बहुत से कवियों ने तो महाकाव्य-लेखन से ही प्रारम्भ किया है। खैर छोड़ें उनकी बात। स्वाधीनता के बाद जो महत्वपूर्ण प्रबन्ध-कृतियां सामने आई हैं, उनमें मैथिलीशरण गुप्त का 'जय भारत' और 'विष्णुप्रिया' दिनकर की 'उर्वशी' और 'रश्मिरथी', सुमित्रानन्दन पन्त का 'लोकायतन' धर्मवीर भारती की 'कनुप्रिया' विशिष्ट हैं। कुंवरनारायण के 'आत्मजयी' नरेश मेहता की 'संशय की एक रात' ठाकुर प्रसादसिंह के 'महामानव' और नरेन्द्र शर्मा की 'द्रोपदी' को भी इसी क्रम में देखना होगा। इन समस्त कृतिमों में 'कनुप्रिया' और 'आत्मजयी' ही एक ऐसी कृतियां हैं जो शिल्प और बोध दोनों दृष्टियों से आधुनिकता का प्रतिनिधित्व करती हैं। यदि सन् ४६ के प्रकाशन 'कुरुक्षेत्र' और गीतिनाट्य अंधायुग' को भी इस सूची में शामिल किया जाय (जैसा कि अंत में किया गया है) तो उन्हें भी विशिष्ट कृतियों में सम्मिलित किया जा सकता है बल्कि वे तो अपने वैशिष्ट्य में अन्यतम हैं।

गुप्तजी और दिनकर जी दोनों ही पहले के मजे हुए प्रबन्धकार हैं। दोनों ही आधुनिक चिन्तन की उष्मा का शुरू से ही अनुभव करते आये हैं। ये दोनों आधुनिकता को आधुनिक मानवतावाद के रूप में स्वीकारते हैं—उस मानवतावाद के रूप में, जिसमें समस्त उपेक्षित लघु या सामान्य को एक नई दृष्टि से देखा गया है, उसकी अदृष्ट तिरस्कृत पीड़ा, यातना, कामना, त्याग और संघर्ष का मूल्य आंका गया है और पूर्वमान्य समादृत आभिजात्य के खोखलेपन को उद्घाटित किया गया है (यह कार्य गुप्तजी की अपेक्षा दिनकर ने अधिक किया है) या उस आभिजात्य को नवीन जीवन-सन्दर्भों से जोड़कर एक नई छबि दी गई है। मानवतावादी दृष्टि ने उपेक्षित और आदर्शवादी पात्रों की ऊपरी लघुता और महानता को जगह-जगह से फाड़कर भीतर उफनते मानवीय दर्दों को, संवेदनशील क्षणों को व्यंजित किया है, किन्तु अन्ततोगत्वा ये मनोविज्ञान की विघटित व्यक्तित्व वाली धारणा को न मानकर अखण्ड व्यक्तित्व वाली मानवता को ही लेकर चले हैं। अतः वे अपने चिन्तन-मनन में मानवीय सामाजिक प्रश्नों की पकड़ में नये होकर भी दूर तक परम्परावादी ही रहे हैं।

गुप्तजी के 'जयभारत' की कथा महाभारत की कथा का हिन्दी रूपान्तर है और 'विष्णुप्रिया' में चैतन्य महाप्रभु की धर्मपत्नी विष्णुप्रिया का चरित्र गाया गया है। गुप्तजी मूलतः वैष्णव संस्कार के कवि हैं। वास्तव में उन्होंने इस संस्कार के ही माध्यम से आधुनिक युग को देखा है या यों कहिए कि वैष्णव संस्कारों को युगीन मानवतावादी आलोक में नया संस्कार दिया है। आज की मानवतावादी दृष्टि से ही आपने उर्मिला, यशोधरा और विष्णुप्रिया के उपेक्षित गौरव को, उनके भीतर निहित त्याग और व्यथा को वाणी दी है। गुप्तजी आधुनिक युग के द्वन्द्व, विद्रोह, अनास्था और बौद्धिकता को दूर तक न स्वीकार कर सारी चीज़ों का पर्यवसान शान्ति और आस्था में कर देते हैं यानी युग की समस्त तलखी और द्वन्द्व के ऊपर उनका आस्थावादी मधुर वैष्णव व्यक्तित्व छा जाता है। 'विष्णुप्रिया' में भी यह प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है। 'जय भारत' में 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' के समान प्रबन्धत्व का नवीन उन्मेष लक्षित नहीं होता। कथा का नया आयोजन, भाव-भूमियों की नवीन सृष्टि और मूल्यों की नवीन कथा-संयोजना दिखाई नहीं पड़ती। गुप्तजी ने इसमें इतना ही किया है कि महाभारत की व्यापक कथा को एक क्रम से सजा दिया है, कथा को आवश्यक स्फीति या संक्षिप्ति देकर अभिप्रेत प्रभाव व्यवत किया है और जहां मार्मिक प्रसंग आये हैं (महाभारत में मार्मिक प्रसंगों की क्या कमी ?) उन्हें अपनी ओर से और भी उभार कर भावमय कर दिया है। कहीं-कहीं किसी कार्य को नवीन कारण से जोड़कर अधिक विश्वासमय बना दिया है। वास्तव में महाभारत के पाठकों के लिए ये सारी बातें परिचित हैं। महाभारत की सम्पूर्ण कथा को उसी क्रम में रखना अपने-आप में कोई महत्वपूर्ण काम नहीं है। इतनी बड़ी कथा को सम्पूर्ण रूप से थोड़े में कहने से कवि को कथा को ही सुलझाने समेटने में काफी श्रम करना पड़ सकता है। मुक्त भाव से किसी पक्ष को आधुनिकता के परिप्रेक्ष्य में विकसित करना कठिन हो सकता है। 'जय भारत' में यही हुआ है। कहीं-कहीं स्वीकृत कथा के ही प्रसंग में कवि ने छोटी छोटी भावोद्भावनाएं कर काव्य को चमका देने का प्रयत्न किया है जैसे स्वर्ग से च्युत होता हुआ नहुष कहता है :

गिरना क्या उसका, उठा ही नहीं जो कभी
मैं ही तो उठा था, आप गिरता हूँ जो अभी
फिर भी उठूंगा, और बढ़के रहूँगा मैं
नर हूँ, पुरुष हूँ मैं, चढ़के रहूँगा मैं

सर्जन की वह सार्थकता इसमें नहीं दिखाई पड़ती जो 'साकेत', 'पंचवटी' और 'यशोधरा' में दिखाई पड़ी थी। हां, हिन्दी प्रबन्ध के रूप में महाभारत पढ़ने का सुख जरूर प्राप्त होता है।

'विष्णुप्रिया' में कवि ने चैतन्य महाप्रभु और विष्णुप्रिया से सम्बन्धित कुछ प्रसंगों को परस्पर गूंथकर एक कथा-शृंखला तैयार की है। वास्तव में ऐसे विषय गीत के होते हैं जहां घटनाएं कम हों और मनस्थितियां अधिक। यदि ऐसे विषयों को प्रबन्ध काव्य का रूप देना ही हो तो किसी एक या दो-एक प्रसंगों को चुनकर उनके द्वारा कुछ आन्तरिक भाव-कथा तथा मूल्यों का अंकन होना चाहिए, जैसाकि 'कनुप्रिया' में हुआ है। गुप्तजी इस विवशता से परिचित थे इसीलिए उन्होंने विष्णुप्रिया को चैतन्य महाप्रभु के क्रियाकलापों की प्रतिक्रिया में उपस्थित कर उसकी मानसिक स्थितियों को गीतों के ज़रिए व्यक्त किया है। 'विष्णुप्रिया' भी 'जय-भारत' की तरह गुप्त जी का गौरव-ग्रंथ नहीं कहा जा सकता—न तो प्रबन्धात्मकता की दृष्टि से और न तो भाव-सौन्दर्य की गरिमा की ही दृष्टि से। प्रस्तुत काव्य में सर्वत्र निश्छल भावधारा है जो कुछ प्रसंगों के तटों को छूती हुई सरल गति से बहती रहती है। हां 'विष्णुप्रिया' में एक बात ऐसी अवश्य है जो इसे आधुनिक संवेदना की गहनता प्रदान करती है और वह है शची (चैतन्य की मां) और विष्णुप्रिया का आधुनिक नारी-सुलभ असन्तोष या ईषत् विद्रोही दृष्टि। मां और पत्नी दोनों अन्ततोगत्वा भारतीय मां और पत्नी ही हैं। अतः दोनों अपने पुत्र और पति की मंगल-कामना में ही अपना सुख मानती हैं, उनकी व्यथा से व्यथित होती हैं किन्तु दोनों (विशेषतया शची) मन से चैतन्य के गृह-त्याग के कार्य को न्याय-संगत नहीं मान पातीं। विष्णुप्रिया की यह उक्ति कितनी बड़ी चोट है हमारी व्यवस्था पर—

नारी निकले तो असती है
नर यती कहा कर चल निकले

इसी प्रकार जब नित्यानन्द चैतन्य महाप्रभु का आदेश पाकर गृहस्थी बसाने के लिए लौट आता है और शची से कहता है :—

अब मैं गृहस्थ होऊं आज्ञा है निमाई की-
जाओ तुम, मैं ही एक सन्यासी बहुत हूं
लोग देखें गेह में भी बसते विदेह हैं,
'मैंने जो किया किया, करो तुम कहूं मैं जो'

तो शची मानो अपनी धारणाओं और जीवन-मान्यताओं की विजय देखकर बहू से कहती है—

'जीत हुई तेरी बहू हारा वह अन्त में

गुप्त जी की भाषा में एक ऋजुता है। नयी भाषा की बिम्बात्मकता, सांकेतिकता और प्रयोगशीलता गुप्तजी की भाषा में नहीं है फिर भी उसकी ऋजुता उसे लोकभाषा के समीप खींच लाती है। गार्हस्थ्य जीवन का रस गुप्तजी के काव्य में सर्वत्र उपलब्ध है। छायावाद की भाषा एक दिन अपनी नवीन शक्ति के कारण गुप्तजी की भाषा के आगे दिखी थी किन्तु आज छायावाद के अवशिष्ट कवि अपनी उसी भाषा को दुहराकर उसकी निर्जीवता का ही प्रदर्शन कर रहे हैं और गुप्तजी कीभाषा आज के सन्दर्भ में छायावादी भाषा की अपेक्षा अधिक जीवन्त और लोक जीवन के करीब लगती है।

'रश्मिरथी' का कथानक भी महाभारत से लिया गया है किन्तु इसमें 'जयभारत' की तरह सम्पूर्ण महाभारत को गाने का मोह न होकर केवल कर्ण के चरित्र को आधुनिक मानवतावाद के प्रकाश में उद्घाटित करने का सफल प्रयत्न है। 'रश्मिरथी' का कथ्य है कर्ण के माध्यम से कलंकित, उपेक्षित मानवता की मूकता को वाणी देना। कर्ण स्वयं कहता है—

मैं उनका आदर्श, कहीं जो व्यथा न खोल सकेंगे
पूछेगा जग, किन्तु पिता का नाम न बोल सकेंगे
जिनका निखिल विश्व में कोई कहीं न अपना होगा
मन में लिए उमंग जिन्हें चिर काल कलपना होगा

कर्ण सूर्य-पुत्र है प्रकाश पुत्र, जैसे तमाम उपेक्षित, कलंकित किन्तु सामर्थ्यवान पुरुष सामान्य प्रजा में दीखते हैं, इतिहास और भाग्य जिनकी उपेक्षा करते चले जाते हैं, जो अपने पुरुषार्थ से उनसे निरन्तर लड़ना ही जीवन समझते हैं। आज कुल-जन्य, जाति-जन्य, आभिजात्य-जन्य अहंकार मिथ्या सिद्ध हो रहा है। जिसमें पौरुष है, भाग्य को चुनौती दे सकने की शक्ति है, शील है, वही बड़ा है। जिसकी दान-वृत्ति और विवेक-शक्ति अन्याय, आभिजात्य और भाग्य की अनवरत ठोकरों से भी कुंठित नहीं होती, वही बड़ा है। कर्ण पर इधर तमाम कविताएं लिखी गई हैं, यह आकस्मिक नहीं है। वह आज की मानवता की स्थापना करने में सहज ही समर्थ हो सकने वाला पात्र है।

कर्ण के चरित्र के माध्यम से उसके जीवन में घटित प्रसंगों के संदर्भ में कवि ने आज के जीवन के अनेक प्रश्नों और संवेदनाओं को, दृष्टियों और चिन्तन-पद्धतियों को, मूल्यों और आकांक्षाओं को उद्घाटित किया है। कवि ने कुछ अन्य पात्रों (जैसे परशुराम और कुंती) को भी नवीन मनः-संघर्षों के बीच उपस्थित कर या यों कहिए कि सामाजिक व्यक्तिगत संवेदना, कर्तव्य और राग, आस्था और अनास्था के द्वन्द्व के भीतर से उभार कर युगानुकूल नयी छवि दी है। कर्ण अपनी पूर्व-मान्य विशेषताओं का जड़ रूप कर्ण नहीं है। वह अपने अखण्ड पौरुष, जीवनविश्वास और उदात्त शील के बीच कहीं टूटा हुआ है, हारा हुआ है, प्यासा है। हर उपलब्धि उसकी झोली में से सरक जाती है। कृष्ण और कुन्ती के साथ हुए उसके सम्वाद उसकी आन्तरिक पिपासा और टूटन के द्योतक हैं। अन्त में यही अनुभूति उसके चारों ओर शेष रह जाती है—

अब चला चली की बेला है
मन लगता बड़ा अकेला है

'रश्मिरथी', जैसा कि कवि ने स्वयं भूमिका में स्वीकार किया है, शिल्प में परम्परावादी प्रबन्ध काव्य है यानी वर्णनात्नक। और यह इसलिए कि कवि ने पात्रों की सृष्टि में नवीन मानवतावादी दृष्टि का समावेश करते हुए भी अन्ततोगत्वा उन्हें व्यक्तित्व के प्राचीन अखण्डतावादी धरातल पर ही प्रतिष्ठित किया है। इसलिए इस काव्य में मानसिक द्वन्द्वों की मर्म-छवियों के बावजूद घटना का, वर्णन का, 'रेटारिक' का रस अधिक है। बिम्बों की सघनता के स्थान पर सीधे-सादे वर्णनों और सरल प्रवाहमयी भाषा का रूप ही अधिक दिखाई पड़ता है। सघनता और गहनता के स्थान पर स्फीति और निर्व्याजता है। और अन्त में कहा जा सकता है कि कर्ण दुर्भाग्यशाली हो कर भी रक्त से पांडव था, सूर्य-पुत्र था—भीतर से टूटता हुआ भी बाहर से अटूट, भीतर से द्वन्द्व-उद्वेलित होकर भी अपने लक्ष्य के प्रति विकल्पहीन, समाज के अत्याचारों के प्रति रोषयुक्त होकर भी समाज-निर्धारित मूल्यों के प्रति समर्पित। और फिर संदेह होता है कि क्या वह सचमुच आज के मानव का प्रतीक बन सका है ? कुल मिला कर यह एक सशक्त प्रबन्ध काव्य है—प्रबन्ध कुशलता से युक्त, नवीन भावोन्मेष, नवीन दृष्टि और नवीन प्रश्नों से संचालित तथा मार्मिक प्रसंगों एवं गहरी संवेदनाओं से स्पंदित काव्य। वर्णनात्मक स्फीति की कमी इसे और भी प्रभावशाली बना सकती थी।

'उर्वशी' दिनकर जी की नवीनतम प्रबन्ध कृति है। इस बहुचर्चित प्रबन्ध काव्य में कवि ने उर्वशी और पुरूरवा के प्राचीन आख्यान को एक नये अर्थ से जोड़ना चाहा है। पुरूरवा और उर्वशी अलग-अलग तरह की प्यास लेकर एक-दूसरे के करीब आए हैं। पुरूरवा धरती पुत्र है और उर्वशी देव लोक से उतरी हुई नारी है। कवि के शब्दों में 'पुरूरवा के भीतर देवत्व की तृषा है। इसलिए मर्त्यलोक के नाना सुखों में वह व्याकुल और विषण्ण है। उर्वशी देवलोक से उतरी हुई नारी है। वह सहज निश्चित भाव से पृथ्वी का सुख भोगना चाहती है। पुरूरवा की वेदना समग्र मानव-जाति की चिरन्तन वेदना से ध्वनित है। किन्तु मानवता की यह वेदना उत्पन्न कहां से होती है? मानव-मन का यह दुःसाध्य संघर्ष आता कहां से है? आत्मा का धरातल मनुष्य को ऊपर खींचता है और जैव धरातल का आकर्षण नीचे की ओर है। मानवता ही मनुष्य की वेदना का उत्तम नाम है। 'आदमी हवा और पत्थर के बीच झटके खाता है और झटका खाकर कभी इस ओर कभी उस ओर को मुड़ जाता है। कभी प्रेम कभी सन्यास। प्रेम और सन्यास एक-दूसरे को संहन नहीं कर पाते। उर्वशी पुरूरवा को समझाती है कि दोनों में कोई फरक नहीं है। ईश्वर और प्रवृत्ति आपस में अविरोधी हैं। देवता वही है जो सब कुछ को पीठ दिखाकर भाग रहा है। देवता वह है जो सारी आसक्तियों के बीच अनासक्त है, सारी स्पृहाओं को भोगते हुए भी निस्पृह और निर्लित है।'

उर्वशी का दर्शन-पक्ष है प्रेम और ईश्वर, जैव और आत्म धरातल को परस्पर मिलाना। वैसे तो यह एक शाश्वत प्रश्न है जो इस युग के मूलभूत प्रश्नों से जुड़ता नहीं दीखता किन्तु प्रकारान्तर से कहा जा सकता है कि धरती और स्वर्ग, स्वर्ग और धरती के मिलन का स्वर ऊंचा करना और उपेक्षित धरती की महता स्थापित करना मुख्यतः आज की मानवता की प्रवृत्ति है। इसलिए 'उर्वशी' में भी 'कुरुक्षेत्र' और 'रश्मिरथी' की तरह युग-बोध उभरा है,। मगर यह कहना अतिरिक्त खींचतान होगी। उर्वशी का स्वर युग-बोध से उतना नहीं जुड़ता जितना कि एक शाश्वत प्रश्न से। हां जहां कवि क्षणवादी दृष्टि से जीवन-सत्यों की महत्ता-स्वीकारता है और आधुनिक मनोविज्ञान की उपलब्धियों का उपयोग करता है वहां वह निश्चय ही अपने युग से जुड़ जाता है। वास्तव में यदि उर्वशी को रूपक के आधार पर देखें जिसकी स्थापना कवि ने भूमिका में की है तो बात

कुछ उलझ जाती है यानी रूपक का निर्वाह नहीं हो पाता और असंगतियां दीखने लगती हैं। मसलन यदि पुरूरवा को उर्वशी को पाकर भी आत्मा की ही भूख शान्त करनी थी तो वह औशीनरी के साथ भी तो हो सकती थी। वह भी नारी थी और अधिक धर्मनिष्ठ नारी, जो जैव से अधिक आत्मा के धरातल को छूती थी। पुरूरवा जिस उर्वशी के साथ रहकर आत्मा की भूख शान्त करना चाहता है वह तो स्वयं तन के सुख की भूखी है और यह भी सत्य है कि पुरूरवा उर्वशी के रूप पर ही आकृष्ट हुआ था पहले। फिर उसे पाकर आध्यतिमक भूख की तृप्ति में खोया-खोया रहना दार्शनिक स्तर पर संगत नहीं जान पड़ता। औशीनरी से पुरूरवा की विमुखता और उर्वशी के प्रति उसकी उन्मुखता को कवि ने यह कहकर औचित्य प्रदान करना चाहा है कि औशीनरी नारी होकर भी पुरूरवा के पुरुष मन की भूख नहीं समझती, उसे अपने यौवन की उष्मा न अर्पित कर सेवा अर्पित करती रही। इससे भी जाहिर होता है कि पुरूरवा का उर्वशी के प्रति आकर्षण मूलतः जैविक धरातल पर ही है। हां च्यवन ऋषि और सुकन्या के सम्बन्धों में अवश्य ही बहुत संगत रूप से आध्यात्मिकता और भौतिकता की शक्तियों का समन्वय है।

'उर्वशी' की चर्चा को दार्शनिक ऊहापोह से निकालकर काव्य के धरातल पर प्रतिष्ठित किया जाए तो निश्चय ही कुछ महत्वपूर्ण उपलब्धियां लक्षित होंगीं। 'उर्वशी' प्रेम और सौन्दर्य का काव्य है। प्रेम और सौन्दर्य की मूल धारा में जीवनदर्शन सम्बन्धी अन्य छोटी-छोटी धाराएं आकर मिल जाती हैं। प्रेम और सुन्दर का विधान कवि ने बहुत व्यापक धरातल पर किया है। समस्त परिवेश इससे अनुप्राणित हो उठा है। कवि ने प्रेम की छवियों को मनोवैज्ञानिक धरातल पर पहचाना है। प्रेम भी निर्विकल्प की अवस्था नहीं है, उसमें भी अनेक स्फुलिंग उड़ा करते हैं और मन को शान्त करने के स्थान पर बेचैनी से भर देते हैं। पुरूरवा की उस मानसिक अवस्था को--जिसमें वह अपनी निरन्तर की अतृप्ति को व्यक्त करता हुआ कहता है—

किन्तु जग कर देखता हूं
कामनाएं वर्तिका-सी बल रही हैं
जिस तरह पहले पिपासा से विकल थीं
प्यास से व्याकुल अभी भी जल रही हैं
रात भर मानो, उन्हें दीपक सदृश जलना पड़ा हो,
नींद में मानो किसी मरुदेश में चलना पड़ा हो,

दार्शनिक धरातल पर परखने के स्थान पर मनोवैज्ञानिक धरातल पर परखा जाए तो सौन्दर्य की उपलब्धि अधिक होगी। प्रस्तुत प्रबन्ध में 'रश्मिरथी' की घटना-बहुलता और वर्णनात्मकता तथा 'कुरुक्षेत्र की वैचारिकता से अलग हटकर भाव-संकुलता व्यंजित है। भाव-संकुलता के ही सहारे प्रबन्धात्मकता व्यंजित है। इसे दर्शन के क्षेत्र में न घसीटकर भाव के ही क्षेत्र में सीमित रखकर देखना इसके काव्य-सौन्दर्य के साथ न्याय करना होगा। दो भाव-संकुलताओं के बीच इतिवृत्त की विरल कड़ी नाटकीय और क्षिप्र रूप से जोड़ दी गई है अतः वर्णन को अवकाश कम मिला है चित्रण ही छाया रहा है। चित्रण में बिम्ब की प्रधानता होती है अतः उर्वशी में बिम्बों की बहुलता है। बिम्बों की बहुलता 'उर्वशी' को नयी कविता के समीप खींच लाती है। 'उर्वशी' का बोध नया नहीं है वह प्रेम का बोध है, यौन-सौन्दर्य का बोध है। यह बोध अपने-आप में शाश्वत बोध है किन्तु उसे अन्य बोधों से जोड़कर या उसके भीतर निहित अनेक गहरे ताजे स्तरों को उभारकर नवता के संदर्भ से जोड़ा जा सकता है। 'उर्वशी' में प्रेम के ही मान्य स्वरूप के भीतर प्रविष्ट होकर उसकी आन्तरिकता और सूक्ष्म संवेदनाओं को उभारा गया है और कहीं कहीं उसे एक आध्यात्मिक भंगिमा भी देने का प्रयत्न किया गया है। इन अनुभूतियों और संवेदनाओं की व्यंजना के लिए जिन बिम्बों का सहारा लिया गया है वे कहीं तो बड़े ही पारम्परिक हैं जिन्हें सायास नयी खराद पर चढ़ाया गया है और कहीं बहुत नये और ताज़े हैं—नयी कविता के अच्छे बिम्बों की श्रेणी के। यही बात रूप सौन्दर्य व्यंजित करने वाले बिम्बों के बारे में कही जा सकती है। दिनकर की भाषा में हमेशा एक प्रत्यक्षता और सादगी दिखी है परन्तु 'उर्वशी' में भाषा की सादगी अलंकृति और आभिजात्य की चमक पहनकर आई है—शायद इस पुस्तक की वस्तु की मांग रही हो।

'उर्वशी' सम्वाद शैली में लिखी गई है इसलिए इस शैली का निर्वाह होना आवश्यक था। किन्तु देखने में यह आता है कि उर्वशी और पुरुरवा प्रेम के गहन क्षणों में भी लम्बे-लम्बे उद्गार व्यक्त करते हैं जैसे भाषण दे रहे हों। मितभाषिता का समय लम्बे-लम्बे उद्गारों से लद गया है। इन कमियों के बावजूद यह कहा जा सकता है कि 'उर्वशी' इस युग की महत्वपूर्ण प्रबन्ध कृतियों में से एक है।

'लोकायतन' सुमित्रानन्दस पन्त की नवीन कृति है, जिसमें कवि ने भारतीय जीवन की, स्वाधीनता के पहले और बाद की कथा गाई है। यह

दो खण्डों में विभाजित है—बाह्य परिवेश और अन्तश्चैतन्य में। बाह्य परिवेश वाले खण्ड में पूर्व स्मृति: 'आस्था' 'जीवन द्वार' 'संस्कृत द्वार' 'मध्यविन्दु:' 'ज्ञान' तथा द्वितीय खण्ड में 'कला द्वार' 'ज्योति द्वार' 'उत्तर स्वप्न' और 'प्रीति' उपखण्ड हैं। प्रथम खण्ड में कवि ने देश-काल की विषम अवस्था तथा जन-जीवन के ह्रास और अभाव की कथा कही है। पराधीन भारत का जो ह्रास हो गया था वह ह्रास केवल बाहरी नहीं था, भीतरी भी था। यानी राजनीतिक पीड़न में वह अभावग्रस्त, अशिक्षित, दरिद्र, अपमानित और असुविधा भोगी तो था ही, धर्म-कर्म की अनेक जर्जर रूढ़ियों में अपने को बुरी तरह जकड़ लेने के कारण भीतर से भी गिरा बैठा था। भारत की इस दुहरी ह्रासावस्था को कवि ने 'सुन्दरपुर' गांव की दशा के माध्यम से व्यक्त किया है। देश के मुक्त होने पर भी संस्कृति के द्वार नहीं खुले। संस्कृति के वास्तविक प्रकाश के अभाव में लोग धर्म और कर्म की संकुचित गलियों में भटक गए। इस संक्रमण काल में अर्थ, धर्म, काम सभी के विकृत रूप खुलकर सामने आए। जीवन-साधन दुर्लभ हो गए। पन्त जी ने इन विषमताओं के समाधान के लिए सुन्दरपुर गांव के पास काल्पनिक कला-केन्द्र खोला है और उसी के माध्यम से कवि ने अपने जीवनादर्शों और समाधानों को प्रस्तुत किया है। वंशी और हरि (जो स्वयं स्वाधीनता आन्दोलन के सिलसिले में जेल जा चुके हैं) स्वाधीनता के बाद विकसित होने वाली स्वाधीनता संग्राम के सेनानियों की संकुचित स्वार्थी वृत्ति से बहुत दुखी होते हैं और वे एक कला-केन्द्र की स्थापना करते हैं जिसमें भौतिक योग-क्षेम के साथ ही साथ आध्यात्मिक चेतना का विकास किया जाता है। माधो गुरु मध्यकालीन जड़ संस्कारों के प्रतीक हैं जो कला-केन्द्र की मान्यताओं का विरोध करने के लिए एक आश्रम की स्थापना करते हैं जिसका उद्देश्य होता है कला-केन्द्र को तरह-तरह से बदनाम करना। कला-केन्द्र निरन्तर राष्ट्रीयता से मानवता और मानवता से देवत्व की ओर अग्रसर होता है। वास्तव में कला-केन्द्र भौतिक आवश्यकताओं के निषेध का नहीं उसकी पूर्ति का समर्थक है और प्रेम उसकी केन्द्रीय शक्ति है जो भौतिकता और आध्यात्किता दोनों को जोड़ता है। अन्त में वंशी की ज्योति से उद्दीप्त हो उठने वाली एक विदेशी नारी मेरी हिमालय की गोद में एक ऐसे समाज की स्थापना करती है जहां कवि का स्वप्न पूरा होता है।

इस प्रबन्ध की पट-भूमि बहुत ही व्यापक है जिसमें स्वाधीनता के पहले से लेकर उत्तर स्वप्न तक का विशाल भारतीय जीवन अन्तर्भुक्त हो

उठा है। पन्त जी युग-जीवन के यथार्थ के हर पहलू को समझते हैं, देश विदेश के समस्त परिवर्तनों को, बदले मूल्यों को, पुरातन और नवीन के संघर्षों को, भौतिकता और आध्यात्मिकता के द्वन्द्वों को उन्होंने परखा है। कहा जा सकता है कि आज का यह पहला प्रबन्धकाव्य है जिसने अपने समस्त युग को उसकी समग्रता में पकड़ने की कोशिश की है लेकिन ऐसा लगता है यथार्थ-दर्शन और आदर्श-कल्पना ये दोनों अध्ययन और जानकारी के परिणाम के रूप में आये हैं, जीवन के संवेदनों के बीच नहीं उभर सके हैं। कवि उन्हें राग के स्तर पर नहीं ला सका है। अतः इस समस्त समग्रता और विराटता में जितना ऊपर का विस्तार दीखता है उतना जीवन का गाम्भीर्य नहीं। सतह पर फैली हुई वास्तविकताओं के जब आंकड़े पेश किये जाते हैं तब काव्य-प्रभाव और भी मरने लगता है। ऐसा लगता है कि ऊपर-ऊपर बिखरी तमाम घटनाओं और स्थितियों को सुन्दर पद्य का रूप दे दिया गया है। स्वाधीनता-संग्राम जैसे देश-व्यापी और प्रभावशाली संघर्ष के चित्रण में एक भी बिम्ब ऐसा नहीं उभरना जो मन को गहरे छुए। कथानक-रचना की शिथिलता, अनुपातहीनता और रिपोर्टिंग की प्रवृत्ति से इस प्रबन्ध काव्य का प्रभाव बहुत आहत हुआ है।

कथानक-रचना इस कारण और भी शिथिल हो उठी है कि कवि ने अपनी अभीप्सित बात बार-बार फेंट-फेंटकर कही है अनेक अनावश्यक प्रसंगो और दृश्यों को सिया गया है; 'लोकायतन' के प्रारम्भिक अंशों में जो गठन लक्षित होती है वह बाद में दुर्लभ हो गई है। इसी प्रकार इसमें आए हुए पात्र भी अपने समस्त संवेदनों के साथ जीवन्त रूप में नहीं उभरते। उनके कार्यों की मानो सूची पेश की गई है। ये पात्र विचारों के निस्पन्द प्रतीक मालूम पड़ते हैं। 'लोकायतन' की भाषा छायावाद काल की भाषा है जिसमें आज के जीवन की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। यह भाषा सारे भावों के बीच आलंकारिक साज-सज्जा, अभिजात शब्द-संयोजन के साथ एकरस बहती रहती है। यथार्थ की इतनी विशाल पट-भूमि लेकर भी, आज के मूल मानव-प्रश्नों के बीच समाधान पाने को तड़प लेकर घूमती हुई भी यह प्रबन्ध कृति काव्य के स्तर पर प्रभावहीन सिद्ध हुई है। हां, प्रकृति-चित्रणों में पन्तजी आज भी बहुत ताजे और आकर्षक हैं। 'लोकायतन' में जहां कहीं प्रकृति-चित्र आए हैं कविता बिम्बात्मक और रस-सिक्त हो उठी है।

'कनुप्रिया' राधा के प्रेम-संवेदन के माध्यम से जीवन को समझने का

एक सफल प्रयत्न है। कहा जा चुका है कि वर्तमान जीवन-दृष्टि अनासक्त समय के विस्तार को महत्व नहीं देती, तन्मयता के साथ भोगे हुए क्षणों को महत्व देती है। कवि ने भूमिका में अपनी बात साफ करते हुए लिखा है—'लेकिन ऐसे भी क्षण होते हैं जब हमें लगता है कि यह सब जो बाहर का उद्वेग है—महत्व उसका नहीं है—महत्व उसका है जो हमारे अन्दर साक्षात्कृत होता है—चरम तन्मयता का क्षण जो एक स्तर पर सारे बाह्य इतिहास की प्रक्रिया से ज्यादा मूल्यवान सिद्ध हुआ है जो क्षण हमें सीपी की तरह खोल गया है इस तरह कि समस्त बाह्य-अतीत, वर्तमान और भविष्य सिमटकर उस क्षण में पुंजीभूत हो गया है और हम नहीं रहे।' कवि के शब्दों में कनुप्रिया की प्रतिक्रियाएं उसी तन्मयता की विभिन्न स्थितियां हैं।

'कनुप्रिया' पूर्वमान्य स्वरूप में नहीं, एक नये अर्थ में प्रबन्ध काव्य है। इसमें कृष्ण के साथ बीते राधा के तन्मय क्षणों की विभिन्न स्थितियों को रूप देना ही कवि को अभिप्रेत है, कोई कथा कहना नहीं। जो कुछ स्थूल प्रसंग और कथांश आते भी हैं वे राधा के प्रेम-संवेदन की आंच में गलकर विलीन हो जाते हैं। वे कथा या प्रसंग न रहकर संवेदन बन जाते हैं। राधा ने कृष्ण के साहचर्य को उसके अनेक क्षणों में पूरी तन्मयता के साथ जिया था और जीकर एक सत्य पाया था। इसलिए वह सत्य उसका अपना है, कहीं से उधार लिया हुआ नहीं। इस सत्य के प्रति राधा को आशंका नहीं होती। यहाँ तक कि जब कृष्ण सेननायक, महाराज और दुनिया की नजरों में महान बन गये हैं तो भी राधा अपने सत्य को झुठलाती नहीं। उसे जिये हुए सत्य के अतिरिक्त ऐसा कोई सत्य नहीं दीखता जो उसके अपने लिए सार्थक हो। और पूरे विश्वास के साथ साक्षात्कृत सत्य से इतर सत्यों को अस्वीकारती हुई कहती है—

पर इस सार्थकता को तुम मुझे
कैसे समझाओगे कनु !
शब्द शब्द शब्द....
मेरे लिए सब अर्थहीन हैं
यदि वे मेरे पास बैठकर
मेरे रूखे कुन्तलों में उंगलियां उलझाये हुए
तुम्हारे कांपते अधरों से नहीं निकलते
....

शब्द शब्द शब्द
तुम्हारे शब्द अगणित हैं कनु संख्यातीत
पर उनका अर्थ मात्र एक है
मैं
मैं केवल मैं
फिर उन शब्दों से
मुझी को
इतिहास कैसे समझाओगे कनु :

'कनुप्रिया' एक ऐसा प्रबन्ध काव्य है जो आधुनिक शिल्प और भाव-बोध दोनों को आत्मसात कर सका है। 'कनुप्रिया की भी मूल संवेदना प्रेम है किन्तु इस संवेदना को उसकी गहराइयों में उभारते हुए भी कवि मूल्यों से उसे असंपृक्त नहीं कर सका है। कृष्ण का युद्ध सत्य है या राधा के साथ उनके तन्मयता में बीते प्रेम-क्षण। शायद प्रेम के क्षण ही सत्य हैं, क्योंकि वे द्विधाहीन मन की संकल्पात्मक अनुभूति हैं और युद्ध द्विधा की उपज, अनजिए सत्य का आभास। राधा को छोड़कर अकेले कृष्ण का निर्णय जूए के पासे की तरह फेंका हुआ निर्णय होता है—

और जूए के पासे की तरह तुम निर्णय फेंक देते हो
जो मेरे पैताने है वह स्वधर्म
जो मेरे सिरहाने है वह अधर्म
....
यदि कहीं उस दिन मेरे पैताने
दुर्योधन होता तो
इस विराट समुद्र के किनारे और अर्जुन मैं भी
अबोध बालक हूँ।

'कनुप्रिया' की मूल संवेदना रूमानी है। और कहा जाता है कि भारती की भी मूल संवेदना रूमानी ही है। अतः जहां अनुकूल प्रसंग मिल जाते हैं कवि की तन्मयता दर्शनीय होती है। भारती की रूमानियत इस बात में नहीं है कि वे सरल भावुकता से जीवन को देखते हैं यानी पहले जीवन को सरल रेखा-सा मानकर फिर ठोकर खाकर रोते हैं बल्कि रूमानियत इसमें है कि वे बहुत से नये कवियों की कोरी बौद्धिकता न ओढ़कर हृदय के रस में, संवेदना की आंच में, स्वानुभव के ताप में कथ्य को गलाकर कहते हैं। इसलिए

उनकी कविताओं में अपूर्व संवेद्यता और तरलता होती है। जीवन की नई अनुभूनियां, आधुनिक प्रश्नाकुलताएं नवीन चेतना-बोध, नये बिम्ब-संयोजन और नई अर्थमत्ता से पूर्ण सरल भाषा ये सब भारती को उनकी रूमानी तरलता के बावजूद नई कविता के क्षेत्र में ही प्रतिष्ठित करते हैं। 'कनुप्रिया' में राधा का जो प्रेम-संवेदन है, स्थूल रूप से बहुत पुराना है। रीतिकाल और भक्तिकाल के विविध कवियों ने खूब गाया है। मगर कनुप्रिया' में एक तो इस प्रेम-संवेदन को नये जीवन-सन्दर्भ में नवीन दार्शनिक अन्विति दी गई है, दूसरे नये बिम्बों, इन्द्रियबोधों और प्रतीकों के जरिए राधा के प्रेमानुभवों के सूक्ष्म स्तरों को उद्घाटित किया गया है। कहीं कहीं पुराने प्रसंगों और उपमानों को नये ढंग से आयोजित कर नई छवि प्रदान की गई है किन्तु कहीं-कहीं किसी रीतिकालीन कवि की उक्ति को ज्यों-का-त्यों रख दिया गया है।

'तो भरे हुए घड़े में
अपनी आंखों की चंचल छाया देखकर
उन्हें कुलेल करती चटुल मछलियां समझकर
बार बार सारा पानी ढलका देती है'

इन पंक्तियों को 'नित नीर-भरी गगरी ढरकावे' से मिला लीजिए।

'कनुप्रिया' अपनी संवेदनात्मक गहराई और शिल्प की ताजगी के कारण एक विशिष्ट उपलब्धि है। शिल्प की नवीनता में इस बात का भी विचार होना चाहिए कि इसमें पात्र के रूप में केवल राधा है जो स्वयं अनुपस्थित कृष्ण को संबोधित कर भाथकथा कहती है और कहीं एकरसता नहीं आती।

ठाकुरप्रसादसिंह का 'महामानव' गांधीजी के जीवन पर आधारित प्रबन्ध काव्य है जिसमें गांधी-जीवन के माध्यम से भारतीय जन जीवन के जागरण की गाथा गाई गई है। यह काव्य प्रबन्धत्व की दृष्टि से भले ही उपलब्धि न प्राप्त कर सका हो किन्तु स्थान-स्थान पर भारतीय जन-मानस की विभिन्न स्थितियों का तथा संघर्षों का जो चित्रण हुआ है वह बड़ा ही प्रभावशाली बन पड़ा है।

नरेन्द्र शर्मा की 'द्रोपदी' वैसे तो द्रोपदी को केन्द्रित कर, उसे जीवनी-शक्ति का प्रतीक मानकर लिखी गई है किन्तु लगता है कि इस संक्षिप्त कलेवर

में पूरे महाभारत की मूल कथा को भर देने का मोह कवि में जाग गया है। कवि किसी विशिष्ट कथा-प्रसंग और संवेदना पर जोर न देकर आंधी के पत्ते के समान समय और स्थान के विस्तार में उड़ता फिरा है अतः किसी प्रकार की प्रभावान्विति काव्य को प्राप्त नहीं हो सकी है। द्रोपदी का प्रतीकात्मक या भावात्मक पहलू इस भाग-दौड़ में उग नहीं पाया है और भाषा तो आज की भाषा लगती ही नहीं। स्वयं कवि के पहले के गीतों में जो जीवंतता और ताज़गी लक्षित होती है, वह यहां कृत्रिमता और बासीपन में बदल गई है।

'उत्तर जय' नरेन्द्र शर्मा का दूसरा प्रबन्ध काव्य है जिसे कवि ने गाथा काव्य कहा है। इसमें महाभारत के अन्तिम समय को (जब दुर्योधन के आहत होते ही महाभारत का युद्ध समाप्त हो जाता है) लिया है। भूमिका में प्रस्तुत गाथा काव्य को आधुनिक खण्ड काव्य की नई विधा के अन्तर्गत माना गया है (जिसके लिए पता नहीं क्यों पाठक पाठिकाओं से क्षमा याचना की गई है कि जैसे नई विधा में लिखना कोई अपराध हो)। नई विधा में यह काव्य इसलिए माना गया है क्योंकि इसमें युधिष्ठिर और अश्वत्थामा को खण्डित और पीड़ाभोगी बताया गया है और पीड़ाभोगी की नियति है पीड़ा से बच भागने का प्रयत्न। पीड़ा तो जीवन की नियति है उसे भोगना ही उससे मुक्ति है, उससे भागना ही यातना। अश्वत्थामा सर्वाधिक सामर्थ्यवान अतिरथी होकर भी पीड़ाभीरु थे। पीड़ा से बच-बचकर निकलने के कारण ही परपीड़क बने और चिरंजीव होकर शापताप भोगने के लिए शापित हुए। इसी प्रकार युधिष्ठिर जो आकाशपुरुष थे, 'पृथा या पृथ्वी माता के आंचल में पल कर ही अपने पांवों पर खड़े हुए थे। पर उन्हें धरती के आंचल के मटमैलेपन से आच्छादित रहना न आता था। युधिष्ठिर अपने स्वभाव (आकाश पुरुषता) और नियति (पृथ्वी से प्रतिबद्धता) के द्वन्द्व में बंटे हुए थे। यही द्वन्द्व उनकी पीड़ा का कारण था। आज के आकाश पुरुषों में यह संघर्ष सहज ही लक्षित होता है। यों तो इस काव्य में आये हुए सभी पात्र प्रतीकात्मक अर्थ रखते हैं किन्तु इसे आधुनिकता की सार्थकता देने वाले मुख्य दो ही पात्र हैं युधिष्ठिर और अश्वत्थामा। ये ही दो काव्य के केन्द्र भी हैं। शेष तो इनसे सम्बद्ध होकर इनकी सार्थकता को उभारने के लिए आये हैं।

वैसे तो 'द्रोपदी' काव्य भी प्रतीकात्मक अर्थ रखता है किन्तु वह अर्थ केन्द्रित न होकर त्वरा से भागती कथा-व्याप्ति में बिखर गया है। 'उत्तर जय' में केन्द्रीभूत अर्थ का इतना बिखराव नहीं है। बिखराव है किन्तु इसमें वह

अपनी सत्ता बनाये हुए है। काव्य के प्रभाव की दृष्टि से यह बिखराव भले ही बाधक साबित हुआ हो, कवि के कथ्य को निगल नहीं सका है। इसलिए पुस्तक समाप्त करने पर लगता है कि एक आधुनिक बोध (जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) इन सारे पात्रों और प्रसंगों को बांधता हुआ ऊपर उठा है किन्तु यह सही है कि इतने छोटे काव्य में अन्य पात्रों की अवतारणा प्रासांगिक रूप से की गई होती यानी सभी रंगमंच पर न आये होते तो काव्य को अधिक गठन और प्रभाव प्राप्त हुआ होता। शायद नाटकीय शैली में इसे प्रस्तुत करने का ही यह परिणाम है कि सभी पात्रों को रंगमंच पर आना पड़ा है। यह स्पष्ट कहा जा सकता है कि प्रतीकात्मक अर्थ के उद्घाटन में समर्थ होकर भी कवि काव्य नही दे सका है। कथा ही इतनी हावी रही है कि काव्य को उभारने का अवकाश ही नहीं मिला है। पात्र प्रतीकात्मक हैं किन्तु यह छोटी सी प्रबंध कृति अनेक पात्रों के बिन्दुओं को एक रेखा में अनुस्यूत करने के प्रयत्न में किसी पात्र की मनोकथा या अन्तर्द्वन्द्व को उतनी गहनता से उभारने का अवकाश नहीं पा सकी है जितनी अपेक्षित थी। इसकी भाषा 'द्रोपदी' की भाषा की अपेक्षा अधिक जीवंत है और यह पूरा काव्य भी 'द्रोपदी' की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली।

कुवंर नारायण का 'आत्मजयी' कठोपनिषद से लिए गये नचिकेता के कथानक पर आधारित प्रबन्ध काव्य है। यह एक नातिख्यात कथानक है। इसलिए इसके साथ जन-विश्वास की रूढ़ियां चिपकी हुई नहीं हैं। यह एक कच्चे माल जैसा है जिसे कलाकार अपनी सुविधा के अनुसार नया रूप दे सकता है। 'आत्मजयी' के कवि ने ऐसा ही किया है। वास्तव में आत्मजयी' उपनिषद् की एक छोटी सी कथा पर आधारित शुद्ध रूप में आधुनिक चिन्तना का काव्य है। चूंकि नचिकेता का कथानक हिन्दू धर्म से न जुड़कर शुद्ध पौराणिक कथा के रूप में ही शेष रह गया है इसलिए उसे नये संदर्भों और नये अर्थों से संपृक्त करने में कवि को कोई कठिनाई अनुभव नहीं हुई। और सच बात तो यह है कि 'आत्मजयी' में कोई कथा या व्यापार है ही नहीं। एक क्षीण कथा-सूत्र कवि के चिन्तन को अनुस्यूत करने के लिए आया है। जहां कथा, प्रसंगों और व्यापारों की प्रधानता होती है वहां कवि को मूल कथा के निर्वाह और नवीन उद्भावना के सामंजस्य के कठिन मार्ग से गुजरना होता है किन्तु जहां मूल कथा बहुत ख्यात न हो और कृति अनेक कथाओं, प्रसंगों और व्यापारों से न गुजर कर कुछ चिन्तन बिन्दुओं में बंटी हो वहां कवि को

इस प्रकार छोड़ने जोड़ने के सामंजस्य-खोजी संकट-मार्ग से नहीं यात्रा करनी पड़ती।

'आत्मजयी' में नचिकेता का अपना पौराणिक व्यक्तित्व नहीं उभरता, वह कवि के आधुनिक चिन्तन का प्रतीक मात्र बनकर रह गया है। कवि को अपने चिन्तन के अनुसार नचिकेता की मूल कथा में थोड़ा सा परिवर्तन कर लेने में कोई कठिनाई अनुभव नहीं हुई है। पौराणिक कथाएं वास्तव में प्रतीक कथाएं होती हैं वे इतिहास-कथाएं नहीं होतीं। दिक्कत तब होती है जब हम उन कथाओं को अपने धार्मिक विश्वासों से जड़ीभूत करके इतिहास-कथाएं मान लेते हैं। हनुमान या अन्य पात्रों के साथ इतिहास सत्य को जोड़ कर लगभग स्थिर कर दिया गया है। जो व्यक्ति अपने सर्जन के रचनात्मक संदर्भों में इन्हें एक सीमा के बाद जोड़ता तोड़ता है वह बहुत बड़ा खतरा झेलता है। नचिकेता का आख्यान पुरा कथा बनकर ही शेष रह गया था अतः कवि ने बड़ी आसानी से इस स्वल्प कथा को भी अपने अनुकूल पुनः सर्जित कर लिया है। इस कथा में थोड़े से प्रसंग आते हैं वे भी कुछ जीवन मूल्यों के चिन्तन से जुड़े हुए हैं, जीवन की गति और व्यापार से सम्बद्ध नहीं हैं। इसलिए कवि ने उन्हें आधुनिक जीवन से संदर्भित और प्रश्नाकुलित कर लिया है। नचिकेता वाजश्रवा का पुत्र है वह अपने पिता से धर्म कर्म सम्बन्धी मतभेदों के कारण खिन्न है और अपने को पानी में डुबो कर आत्महत्या कर लेता है। मर कर वह यमराज के यहां जाता है और उसे यम से मिलने के लिए तीन दिन तक भूखा प्यासा उसकी प्रतीक्षा करनी पड़ती है। यम प्रसन्न होकर नचिकेता को तीन वरदान देता है (१) वाजश्रवा का नचिकेता के प्रति क्रोध शान्त हो (२) यज्ञों की नचिकेताग्नि (३) मृत्यु के रहस्य का उद्घाटन। 'आत्मजयी' के कवि ने नचिकेता की मृत्यु नहीं दिखाई है वह पानी में डूब कर अचेत हो जाता है और अचेतावस्था में ही स्वप्न देखकर यम से साक्षात्कार करता है। कवि के अनुसार यम उसके अन्तर्मन में स्थित मृत्यु का ही पौराणिक रूप है और फिर कवि ने ऊपर के तीन वरदानों में से केवल पहले और तीसरे वरदान को ही लिया है।

कवि ने कहा है कि 'मैंने आत्मजयी' में पहले और तीसरे वरदान के आधार पर ही जीवन सम्बन्धी कुछ धारणाओं पर विचार किया है। अर्थात् आत्मजयी विचार काव्य है जिसमें आधुनिक संदर्भों में उभरे जीवन-प्रश्नों को एक चिरंतन जीवनधारा के प्रश्नों से जोड़ने तथा उनका उत्तर पाने की एक

शाश्वत अकुलाहट है। वाजश्रवा एक प्रकार से ठहरे हुए मूल्य की वाहक पीढ़ी का प्रतीक है जो अपने सारे निर्णयों को आने वाली पीढ़ियों पर लादना चाहती है जो उसकी स्वतंत्रता, मुक्त चिन्तन का अस्तित्व नहीं स्वीकारती, जो मूल्य को चिन्तन, विवेक और व्यथा से प्राप्त नहीं करती, एक उत्तराधिकार के रूप में ही, आप्त सत्य के रूप में उसे आने वाली पीढ़ियों पर लादना चाहती है। और नचिकेता ? वह इस सारे आप्त सत्य के उत्तराधिकार और विवेकहीन निर्णय को अस्वीकार कर अपने विवेक और पीड़ा से सत्य की तलाश करने वाली और उसके लिए मृत्यु तक को वरण करने वाली प्रबुद्ध नयीचेतना का प्रतीक है। यह एक विचित्र सी लगने वाली बात है कि आप्त या चिरंतन सत्य की दुहाई देने वाले लोग हमेशा सत्य से कट जाते हैं और अपनी वेदना और विवेक के साथ अपने जीवन के क्षणों को घनीभूत रूप से जीने वाले सत्य की चिरंतन आत्मा को पा लेते हैं। इसलिए नचिकेता दिए गए चिरंनन सत्य को अस्वीकारता हुआ भी सत्य की आवाज़ सुनता है और वाजश्रवा केवल उसकी लाश ढोता है। नचिकेता अपने को काल को दे देता है इसलिए वह काल का स्वर सुनता है काल ही सत्य है, वही चिरंतन है, हम अपते को काल को देकर ही काल पर विजय प्राप्त करते हैं, मृत्यु को पहचान कर ही जीवन सार्थक बनाने का प्रयत्न करते हैं, तभी हम जान सकते हैं कि मर्त्य होते हुए भी हमें किसी अमर अर्थ में जीना है। मृत्यु से डरने वाले या उसे न पहचानने वाले अपने निजी जीवन को सुख सुविधा से पालने में लगे होते हैं। नचिकेता अपने पिता के इसी सुख सुविधापूर्ण जीवन को अस्वीकार कर एक सत्य खोजी मार्ग अपनाता है जिसमें आत्महत्या का प्रयास भी है, निराशा की चरम स्थिति भी है किन्तु उसी बिन्दु से जीवन की सार्थकता की गहरी तड़प की उत्पत्ति भी है। इसलिए कवि के शब्दों में 'आत्मजयी' में किसी निश्चिन दार्शनिक या नैतिक या धार्मिक या सामाजिक सत्य का प्रतिपादन नहीं है। 'आत्मजयी' मूलतः जीवन की सृजनात्मक सम्भावनाओं में आस्था के पुनर्लभ की कहानी है।

'आत्मजयी' मूलतः आधुनिक चेतना का काव्य है। इसमें कथा स्वल्प है और इस स्वल्प कथा में भी कोई घटनात्मक या व्यापार मूलक सूत्र नहीं है केवल चिन्तन है। ऐसा लगता है कि 'आत्मजयी' के भिन्न-भिन्न खंड आधुनिक चिन्तना के भिन्न भिन्न आयाम हैं अर्थात् आधुनिक जीवन के कुछ संदर्भों को लेकर उन पर व्यक्त किए गए विचारों के

अलग-अलग टुकड़े यहां से वहां तक बिखरे हैं। मुझे लगता है कि ये बातें नचिकेता की इस स्वल्प कथा के बिना भी हो सकती थीं और नयी कविता के अन्य कवियों ने अलग-अलग रूप में इस तरह की कविताएं लिखी भी हैं फिर नचिकेता का आख्यान लेने की क्या आवश्यकता थी? ऐसा लगता है कि कवि नये चिन्तन से उद्दीप्त होकर भी जीवन को एक लम्बी परंपरा में देखना चाहता है। आज जिन प्रश्नों को और उनसे सम्बद्ध विचारों को लोग महज पश्चिम से जोड़ कर चुप हो जाते हैं उन्हें कवि भारतीय जीवन और उसके दर्शन से जोड़ना चाहता है। आज की यह अकुलाहट आज के जीवन में विशेष रूप से उपजी हुई हो सकती है किन्तु जीवन के मूल्यों पर आज के ढंग से विचार पहले नहीं हुआ है, ऐसी बात नहीं। कवि के ही शब्दों में 'आत्मजयी' में ली गयी समस्या नयी नहीं, उतनी ही पुरानी है (या फिर उतनी ही नयी) जितना जीवन और मृत्यु सम्बन्धी मनुष्य का अनुभव। इस अनुभव को पौराणिक संदर्भ में रखते हुए यह चिन्ता बराबर रही कि कहीं हिन्दी की रूढ़ आध्यात्मिक शब्दावली अनुभव की सच्चाई पर इस तरह न हावी हो जाये कि 'आत्मजयी' को एक आधुनिक काव्य के रूप में पहचानना ही शायद कठिन हो। कवि ने आधुनिक व्यक्ति की मानसिक अवस्थाओं के संदर्भ में ही उपनिषद, यम, नचिकेता, आत्मा, मृत्यु, ब्रह्मा आदि रूढ़ से लगने वाले शब्दों का प्रयोग करने का खतरा उठाया है दूसरी ओर आधुनिक मानसिक अवस्थाओं को एक चिरंतन चिन्तन-आकुलता से जोड़ना चाहा है।

'आत्मजयी' की काव्यात्मक उपलब्धि के बारे में कुछ बातें की जा सकती हैं। पहले ही कहा गया है कि यह एक चिन्तन प्रधान काव्य है इसलिए इसमें परिस्थितियों, प्रसंगों और व्यापारों की उष्मा, गति और स्पंदन के स्थान पर एक ठंडी चिन्तनशीलता है। इसके बिम्ब मूलतः बौद्धिक हैं, वे जीवन से सीधे उठाये गये प्रतीत नहीं होते, जहां वे जीवन से लिए भी गए हैं वहां वे किसी व्यापार या प्रसंग से विच्छिन्न होने के कारण और नचिकेता के एक विशेष प्रकार की वैचारिक अकुलाहट मात्र से जुड़े होने के कारण हमारे भीतर कोई जीवन नहीं उभारते, जीवन का एक बोध उभारते हैं। इसलिए अपने आप में यानी अलग-अलग बिन्दुओं पर ये बिम्ब जीवन के बहुत ताज़े और गहरे अनुभवों से स्पंदित दिखाई पड़ते हैं किन्तु नचिकेता की मानसिक चिन्तना के सन्दर्भ से जुड़ कर आपस में उलझ जाते हैं और स्थिर हो जाते हैं इसलिए 'आत्मजयी' जीवन के बीच का लगता

हुआ भी दुरूह हो गया है। इसमें न तो 'अंधायुग' की तरह एक पारदर्शी गहराई है और न 'संशय की एक रात' की तरह (जो नचिकेता की तरह ही एक चिन्तना, एक मानसिक द्वन्द्व का काव्य है) अनुभूति के वेग से उभरता हुआ द्वन्द्व। एक बात और—कवि ने नचिकेता की अचेतावस्था में ही यम से उसका साक्षात्कार कराया है अर्थात् वह अचेतावस्था में सपने देखता है। मैं नहीं कह सकता कि अचेतावस्था का मनोविज्ञान वही होता है जो आत्मजयी में दिखाया गया है। क्या अचेतावस्था में व्यक्ति चिन्तन की इतनी गहरी और शृंखलित बातें सोच सकता है? यदि इसे स्वप्न माना जाए तो भी समस्या जहां की तहां रहती है। स्वप्न तो अचेतन मन के असम्बद्ध प्रतीक होते हैं। स्वप्न के माध्यम से एक सुश्रृंखलित विचार-प्रवाह नहीं चल सकता। उसमें आत्मा और जगत-बोध की बातें भी नहीं हो सकतीं। और स्वप्नान्त के बाद वाले अंश तो ऐसे लगते हैं जैसे नचिकेता को स्वप्न में कोई एक संश्लिष्ट जीवन-बोध न प्राप्त होकर अलग-अलग सृष्टि-बोध सौन्दर्य-बोध, शान्ति-बोध, मुक्ति-बोध प्राप्त हुआ हो। स्वप्नान्त के बाद मानसिक अवस्था का इस प्रकार अलग-अलग टुकड़ों में दूर तक बँट जाना प्रभाव के घनत्व को कम करता है और व्यक्त करता है कि कवि प्रबंधत्व की चिन्ता किए बिना कुछ पहले से ही निर्धारित विषयों पर अलग-अलग कविताएं लिख रहा है। फिर भी चिन्तन काव्य की दृष्टि से यह नयी कविता की विशिष्ट कृति है।

कुछ युद्ध काव्य

युद्ध हमेशा से होते आये हैं और कुछ संवेदनशील व्यक्तियों को युद्ध हमेशा मानवीय मूल्यों के लिये एक भीषण संकट के रूप में दीखता रहा है। युद्ध से सदैव एक मनीषा, एक कवि, एक मनुष्य आहत होता रहा है किन्तु अहंकार, भोग, राज्य विस्तार की लिप्सा सदा से जीभ लपलपाती हुई युद्ध के रूप में सामाजिक मूल्यों को चुनौती देती रही है और तब? तब एक भयानक युद्ध, नर-संहार, विकृतियाँ, खंडित आस्थाएँ, टूटे हुए मूल्य········युद्ध की विभीषिका आधुनिक काल में बढ़ गयी है। युद्ध का रूप और उसके परिणाम दोनों ही अत्यन्त भयानक और विश्व-ग्रासी हो गये हैं। एक ओर भौगोलिक दूरियों के टूट जाने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय मानसिक क्षितिज का विस्तार हुआ है दूसरी ओर एक का संकट दूसरे का संकट भी हो गया है। दो शक्तियों की टकराहट

से बार-बार युद्ध की चुनौती के स्फुलिंग उड़ते हैं और सारा विश्व भयानक विनाश के भय से थर्रा उठता है। थोड़े ही वर्षों के अन्तराल से विश्व के पटल पर दो-दो महायुद्धों का उतर आना कितना भयावह रहा। तीसरे विश्व-युद्ध की आशंका भी रह-रहकर कौंध उठती है। एक ओर बहुत से देश विश्व-परिवार की कल्पना करते हैं दूसरी ओर कुछ अपनी राष्ट्रीय सीमाओं के विस्तार में लगे हुए हैं। इस षड्यन्त्र में पूँजीवादी और साम्यवादी दोनों ही देश शामिल हैं, शेष देश अपनी सीमाओं की सुरक्षा में अपनी राष्ट्रीय सम्पत्ति का अधिकांश झोंक रहे हैं। राष्ट्रीयता जहाँ एक अन्धे उन्माद को जन्म दे रही है वहीं अन्तर्राष्ट्रीयता एक नये प्रकाश मार्ग की खोज कर रही है। इससे मूल्यों में अद्भुत टकराहट उत्पन्न हो गयी है। राष्ट्रीयता की पुनर्परीक्षा करते हुए प्रबुद्ध लोग उसे अन्तर्राष्ट्रीय मानव-चेतना से संलग्न करना चाहते हैं। विज्ञान की नयी खोजें जहाँ एक ओर मानव-शक्ति की नयी संभावनाएँ उद्घाटित कर रही हैं वहीं अणु बम और परमाणु बम का निर्माण कर मानव-मात्र के विनाश की आशंकाएँ पैदा कर रही हैं। हिरोशिमा और नागासाकि की बम पीड़ित जनता विनाश की एक छोटी-सी भूमिका है।

इसीलिये आधुनिक काल में प्रायः विश्व की सभी भाषाओं में युद्ध-सम्बन्धी कविताएँ लिखी गयीं हैं। किन्तु इन कविताओं ने (सस्ती राजनीतिक कविताओं को छोड़ कर) एक राष्ट्रीय उन्माद में आकर युद्ध को प्रोत्साहित करने के स्थान पर एक मानवीय स्तर पर युद्ध के प्रश्नों पर विचार किया है—उसकी अनिवार्य स्थितियों, द्वन्द्वों और परिणतियों के बीच से गुज़रती हुई मानव यातना की अनुभूति उभारी है। इस चिन्तन और अनुभूति को कवियों ने मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्रीय, मानवतावादी सत्यों के आलोक में विकसित अनेक जीवन-प्रश्नों और मानव-कल्पनाओं से संदर्भित किया है।

यह सच है कि युद्ध सदा मानव-समाज को यातना, टूटन और अंधकार प्रदान करता है इसलिये वह मानव मूल्यों की दृष्टि से गर्हित है और मानव मूल्यों में आस्था रखने वाला हर विवेकशील प्राणी युद्ध की अनिवार्यता को बार-बार टालने का प्रयत्न करता है और युद्ध होने के बाद भी विजयोल्लास से उन्मत्त होने के स्थान पर एक पीड़ा, एक विषाद और आत्म-ग्लानि से भर जाता है। फिर भी युद्ध होते हैं क्योंकि क़िन्हीं परिस्थितियों में वे अनिवार्य हो उठते हैं। जहाँ अन्धकार प्रकाश को निगलने के लिये बार-बार मुँह फाड़ता हो वहाँ आखिर विकल्प क्या बचता है? और ऐसे अवसरों पर

मानवता की ओर से लड़ा गया युद्ध मानव-मूल्य के सौन्दर्य से दीप्त होता है। वास्तव में मूल्य एक जटिल वस्तु है उसकी परख परिस्थितियों की सापेक्षता में ही की जा सकती है। जो गुण एक व्यक्ति के लिये मूल्य हो सकते हैं वे ही समाज के लिये दोष और कमज़ोरी भी। 'कुरुक्षेत्र' में आत्मग्लानि में डूबे युधिष्ठिर से भीष्म पितामह कहते हैं कि तप, त्याग, क्षमा, शान्ति एक व्यक्ति के लिये भूषण तो हो सकते हैं किन्तु उस समाज के लिये नहीं जिसकी स्वाधीनता, अधिकार और स्वाभिमान को ग्रसने के लिये एक दूसरा समाज ललकारता हो।

कुरुक्षेत्र

'कुरुक्षेत्र' एक काव्यात्मक गीता है जिसमें आध्यात्मिक चिन्तन के स्थान पर आधुनिक जीवन के प्रश्नों का चिन्तन है। युद्ध की समस्या को लेकर लिखे गये प्रबन्ध काव्यों में 'कुरुक्षेत्र' का बहुत ऊँचा स्थान है। कवि ने युद्ध को निन्द्य बताते हुये भी आधुनिक परिवेश में उसके जटिल रूप को, उसके संक्रांत मूल्य को उभारा है। प्रश्न इतना ही नहीं है कि युद्ध निन्द्य है—उससे बड़ा प्रश्न यह है कि निन्द्य वस्तु बार-बार इतनी अनिवार्य क्यों हो उठती है और युद्ध के रूप में इतिहास की एक बहुत बड़ी चुनौती क्यों बार-बार शांतिप्रिय लोगों को स्वीकार करनी पड़ती है? क्यों उन्हें ऐसा लगता है कि एक विशेष सामाजिक या मानवीय संदर्भ में युद्ध शान्ति की अपेक्षा अधिक मूल्यवान हो जाता है? इस ओर या उस ओर खड़ा होकर एक विशेष प्रकार के निर्णय की साफ-साफ घोषणा करना आसान है किन्तु मानव-नियति और विषम सामाजिक परिस्थितियों से गुज़रता हुआ सत्य अपने को न जाने कितने आवर्तों में लिपटा हुआ पाता है और आज की कविता इसी सत्य के गहन और संक्रांत स्वरूप को उद्घाटित करना जितना प्रासंगिक मानती है उतना उसके किसी काल्पनिक निर्णय का स्वप्न चित्रित करना नहीं। उत्तर भले न मिल पाता हो, प्रश्न और प्रश्न और प्रश्न तो करना ही है। कुरुक्षेत्र में भी वास्तव में कोई उत्तर नहीं है, युद्ध का कोई समाधान नहीं है जहाँ समाधान खोजने का प्रयास है वहाँ कवि केवल स्वप्न द्रष्टा रह गया है—अर्थात् ऐसा हो तो ऐसा होगा और आओ हम उस दिन की आशा से मुँह न मोड़ें। किन्तु कुरुक्षेत्र की शक्ति उसकी यह आशा नहीं है, उत्तर का काल्पनिक नियोजन नहीं है बल्कि वह द्वन्द्व-ग्रस्त प्रश्न है जो धर्मराज और भीष्म के माध्यम से उसके भीतर से गुजरता है।

शान्ति काम्य है, युद्ध निषिद्ध है किन्तु युद्ध के लिए अनिवार्य परिस्थितियां उत्तरदायी होती हैं। जब अनुनय हार जाता है तब प्रतिरोध आवश्यक होता है। इस अवस्था में विनय, शांति, क्षमा मूल्य न रह कर पाप बन जाते हैं—सामाजिक पाप। सच बात तो यह है कि विनय, क्षमा, त्याग उसी को शोभते है जिसमें पौरुष हो, आंच हो। 'अतः विशेष परिस्थितियों में युद्ध प्रकृति और समाज का धर्म बन जाता है। सामाजिक युद्ध का उत्तरदायी व्यक्ति नहीं होता। इसलिए अपने को युद्ध का उत्तरदायी मान लेना गलत ढंग से एक ऐतिहासिक निर्णय को अपने ऊपर ओढ़ना होता है।

किन्तु युद्ध की अनिवार्यता को स्वीकार कर लेने मात्र से प्रश्नों का अन्त नहीं होता। युद्ध शुरू होने पर मूल्य ऐसे उलझ जाते हैं कि रावण और कौरवों के असंख्य अधर्म प्रहारों के साथ राम और पांडवों को भी कुछ न कुछ अधर्म प्रहार करने ही पड़ते हैं। धर्म जहां थोड़ा सा स्खलित हुआ, वह सरकता और उलझता हुआ चला जाता है और धर्मयुद्ध शुरू करने वाला इस अधार्मिकता के लिए कहीं न कहीं विवश हो जाता है और अपनी इस विवशता और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न अधार्मिकता का बोध उसे निरन्तर पीड़ित करता है अर्थात् वह एक ही साथ एक युद्ध बाहर लड़ता है एक भीतर। एक ओर भीषण नर-संहार करता है दूसरी ओर उसे लगता है कि वही अनेक लोगों के रूप में अनेक बार मर रहा है। युयुत्सा और मानवीय करुणा का एक भयानक द्वन्द्व उसे कसता चला जाता है और विजय के पश्चात् भी वह उल्लास नहीं, पश्चात्ताप भोगता है, साम्राज्य नहीं, सामने बिछा हुआ श्मशान पाता है। युद्धोत्तर समाज के सारे विघटन, विकलांग जीवन, श्रीहीनता, छटपटाहट आदि को उदास आंखों से देखता है और विजयश्री उसके सामने उपेक्षित सी खड़ी रहती है। कुरुक्षेत्र के 'धर्मराज' इसी प्रकार के एक संवेदनशील योद्धा के मूर्त्त रूप हैं जो आत्मग्लानि के अतिरेक में अपने को ही युद्ध का उत्तरदायी मानकर भीष्म के सामने विलाप करते हैं।

वास्तव में हमारा काव्य अब तक यह सोचने का आदी रहा है कि विपक्षी का मरना और है और स्वपक्षी का मरना और है। पक्ष के लोगों का मरना दुखयायी है और विपक्ष के लोगों का मरना सुखदायी। आज का काव्य पूरे युद्ध को एक मानवीय धरातल पर लेता है, मरता चाहे कोई हो, एक मानव मरता है, उसका दर्द हमारा दर्द है, उसका खून समारा खून है, उसकी मृत्यु जैसे हमारी मृत्यु है। इतना होने पर भी यह अनिवार्य तो

है ही, नहीं तो उसे हम मारते क्यों ? 'धर्मराज' इसी प्रकार युद्ध की यातना को एक विराट मानवीय धरातल पर देखते हैं। किन्तु एक संवेदनशील विजेता आत्मग्लानि की अवस्था में उसी प्रकार असंतुलित होकर अपने को उत्तरदायी मान कर स्व को पीड़ित करने लगता है जिस प्रकार एक क्रूर विजेता अपने को विजयी मान कर असीम क्रूर उल्लास का अनुभव करता है।

इसलिए भावुकता से अतिक्रान्त धर्मराज अपने समस्त पीड़ित रूप में युद्ध के केवल एक पक्ष को व्यक्त कर पाते हैं, युद्ध का जो जटिल प्रश्न है उसे बौद्धिक स्तर पर सामने रखने में वे असफल रहते हैं। यह काम करते हैं भीष्म। इस प्रकार 'कुरुक्षेत्र' धर्मराज और भीष्म के माध्यम से युद्ध के मूल्य और नियति की अलग अलग धाराओं में बंट जाता है। धर्मराज मूलतः युद्ध के मानवीय मूल्य का प्रश्न उठाते हैं, भीष्म नियति का। इस क्रम में धर्मराज व्यक्तिवादी ढंग से अपने को युद्ध का उत्तरदायी मान कर शांति, क्षमा, त्याग, प्रेम आदि मानवीय मूल्यों का विनाशक मानते हैं और बहाने से यह कहना चाहते हैं कि युद्ध चाहे जिस रूप में हो वह मानवता का संहारक है और अपना सब कुछ खो कर भी मानवीय मूल्यों के पक्षधरों को युद्ध नहीं करना चाहिए। भीष्म सामाजिक चेतना के प्रतीक, हैं उनमें भावुकता के स्थान पर तटस्थ चिन्तन है, इसलिए वे युद्ध की नियति के बारे में बात करते हैं और कहना चाहते हैं कि व्यक्ति के सन्दर्भ में जो मूल्य हैं वे ही समाज के सन्दर्भ में दोष बन जाते हैं। भीष्म भी युद्ध के पक्षपाती नहीं हैं किन्तु वे युद्ध की नियति की परीक्षा करते हुए कहना चाहते हैं कि समाज में जब तक विषमताएं हैं, जब तक दो वर्गों के सुखों और सुविधाओं में आकाश पाताल का अन्तर है तब तक युद्ध की संभावना मिटायी नहीं जा सकती। भीष्म के माध्यम से कवि ने आज के समाज के वैषम्य, विसंगति और भयानक विरूपता को उद्‌घाटित किया है। शांति तो सबसे बड़ी अशक्ति है समाज की, क्योंकि शोषक औरों का खून चूस कर उनसे कहता है कि शान्त रहो। यह शान्ति बड़ी ही मानवघातिनी है। इसलिए युद्ध का समाधान एक ही तरीके से हो सकता है—समाज में साम्य स्थापित कर दो-या तो भेड़ियों के दांत तोड़ दो या फिर भेड़ों को भी बिकराल दांत दे दो। भीष्म स्वप्न देखते हैं कि धर्मराज जैसे लोग यदि हैं तो एक दिन अवश्य आयेगा, जब सच्चे अर्थों में शान्ति स्थापित होगी।

'कुरुक्षेत्र' केवल युद्ध काव्य नहीं है, युद्ध के प्रश्न के बहाने भीष्म ने

आज के सामाजिक जीवन के अनेक प्रश्नों को, अनेक सत्यों को छुआ है। कवि ने मानवतावाद के स्वर को मुखर करते हुए उपेक्षितों के प्रति प्रेम और सहानुभूति तो व्यक्त की ही है उनके अधिकारों का जोरदार समर्थन भी किया है। इसलिए यह मानवतावाद केवल करुणा बन कर ही नहीं चुक जाता, वह साम्यवाद की स्थापना का स्वर ऊंचा करता है। अद्वैतवाद भी समता का समर्थक है किन्तु वह अन्तर्मुख है व्यावहारिक नहीं। इसलिए कवि मार्क्सबादी दृष्टिकोण से समता स्थापित करना चाहता है गोकि ऐतिहासिक वातावरण के सत्य-निर्वाह के कारण मार्क्सबाद का कहीं नाम नहीं लिया है। वह बार बार भीष्म के माध्यम से भाग्यबाद का विरोध और कर्मवाद का समर्थन करता है। कवि ने अपने युग की चेतना को पहचाना है, इतना ही नहीं, अपने विवेक से उसके मंगल-अमंगलकारी स्वरूप की ओर इंगित भी किया है। कवि ने मनोविज्ञान, समाजशास्त्र और मानवताबाद के आलोक में अनेक जीवन-प्रश्नों और मूल्यों को युद्ध और शान्ति के मुख्य प्रश्न के संदर्भ में आकलित किया है। मानव का बड़प्पन आज स्वतः निर्णीत नहीं है उसमें पाप और पुण्य की धूप-छाया जटिल रूप में बुनी हुई होती है। और सच बात तो यह है कि पाप की एक निरपेक्ष व्याख्या करना भी कठिन है। जहां आधुनिक काल ने समाजवाद, मानवतावाद जैसा मानव मंगलकारी व्यावहारिक दर्शन दिया, मनोविज्ञान जैसी मानव-पारखी-दृष्टि दी, वहां उसने बुद्धिवाद का अतिरेक तथा भौतिक सुखों की असीम स्पृहा देकर युद्धों का भयानक तनावपूर्ण वातावरण बना दिया। इसलिए दिनकर ने बुद्धिवाद का विरोध किया है। किन्तु यह अद्भुत विसंगति है कि समाजवाद का समर्थन करने वाला कवि बुद्धि का ही विरोध करने लगता है अर्थात् वह बुद्धि को एक विशेष प्रकार के राजनीतिक छल छन्द में ही सीमित कर देता है।

कुरुक्षेत्र निस्संदेह हिन्दी का एक विशिष्ट ही नहीं, समृद्ध प्रबंध काव्य है। यह एक विचार-प्रधान प्रवन्ध काव्य है जिसमें कवि ने महाभारत का एक प्रसंग लेकर आधुनिक जीवन के सन्दर्भ में कुछ बुनियादी प्रश्नों पर विचार किया है। कवि ने कहा है 'कुरुक्षेत्र में एक साधारण मनुष्य का शंकाकुल हृदय ही है जो मस्तिष्क के स्तर पर चढ़ कर बोलता रहा है। जाहिर है कि कवि वर्तमान परिस्थितियों में साधारण मनुष्य की भांति शंकाकुल है, उसके भीतर संकल्प-विकल्प का द्वन्द्व है और साथ ही अनेक प्रश्न संक्रान्त रूप में उभरते हैं जो हृदय को अपने ढंग से प्रतिक्रियायित करते हैं और

दोनों की प्रतिक्रियाएं टकराती हुई उलझ जाती हैं। कवि का शंकाकुल हृदय युधिष्ठिर के माध्यम से और मस्तिष्क भीष्प के माध्यम से व्यक्त हुआ है। प्रबंध में ये दो अलग अलग पात्र हैं किन्तु सर्जक के भीतर एक ही व्यक्तित्व के दो पक्ष हैं। यदि एक ही पात्र दोनों स्थितियों के संकल्पों-बिकल्पों से गुजरता तो कविता का द्वन्द्व, हृदय और मस्तिष्क का संघर्ष कुछ और होता उसका प्रभाव और भी गहरा और संक्रान्त होता, यहां तो वह साफ साफ दो पात्रों में बंट गया है, दोनों ही पात्र विकल्प से परे हैं। इसलिए कहा जा सकता है कि कुरुक्षेत्र में भाव और चिन्तन का गुंफन तो है, किन्तु संग्रथन नहीं।

इस विचारप्रधान प्रबन्ध काव्य में चरित्र, वस्तु, प्रकृति आदि के क्रमिक विकास और वैविध्य का अभाव होना स्वाभाविक है किन्तु चिन्तन और संवाद के क्रम में अनेक जीवन संदर्भ उभर कर कविता को एक रस बनाये रखने से बचाते हैं। प्रश्न हो सकता है कि चिन्तन मात्र क्या कविता हो सकता है ! नहीं, किन्तु कुरुक्षेत्र का चिन्तन हार्दिक आवेगों, जीवन्त जीवन-संदर्भों और अनेक मार्मिक स्मृति चित्रों में जुड़ा होने के कारण अपना एक अलग ही प्रभाव छोड़ता है। यों रसवादी पाठकों के लिए धर्मराज का अन्तर्मथन तो स्पष्ट रूप से कविता प्रतीत होगा। हाँ, चिन्तनशील भीष्म के भावुक क्षणों का बार बार घिराव भी उन्हें घेरेगा किन्तु ये सब मिलकर शेष वस्तु को भी काव्य का ही रूप देते हैं। चिन्तन अपनी प्रकृति में गतिशील, संक्रान्त और नवीन है, उपदेश या आत्मचिन्तन के रूप में न होकर संवादात्मक है तथा जीवंत ताजे बिम्बों के जरिये मूर्त हुआ है। इसलिए उसमें एक सद्यता और काव्यात्मकता है। कवि ने धर्मराज और भीष्म की मनस्थितियों के अनुसार ही सरल जटिल बिम्बों की रचना की है।

संशय की एक रात

'संशय की एक रात' में भी यही प्रश्न उठाया गया है। राम या तो ईश्वर रहे हैं या चिरंतन गुणों से भूषित महापुरुष। इसलिए रामकाव्यों में राम के दृढ़ संकल्प और अटूट निर्णयों को ही लिया गया है। उनके भीतर उठने वाले संशय, विकल्प या द्वन्द्व की तड़प को नहीं व्यक्त किया गया है जबकि उनके जीवन में निर्णय-अनिर्णय के द्वन्द्व के अनेक गहन प्रसंग भरे पड़े हैं। नरेश मेहता ने राम के जीवन के एक ऐसे ही संशयग्रस्त प्रसंग को सामने लाकर युद्ध के कुछ प्रश्न उभारे हैं। युद्ध की तैयारी हो गयी है, पुल

बंध चुका है, सेनाएं सुबह प्रयाण करने वाली हैं। यह स्वाभाविक था कि प्रज्ञा पुरुष राम के मन में यह आंधी आती कि वे युद्ध करें या न करें। युद्ध ? भयंकर नर संहार, विषाक्त उत्तर प्रभाव, ओह यह सब किसलिए ? केवल राम के लिये, एक व्यक्ति के लिए, केवल एक व्यक्ति की पत्नी की प्राप्ति के लिये अनंत नारियों का वैधव्य ? ओह यह नहीं होगा ? युद्ध नहीं होगा। राम अपने माथे युद्ध का यह कलंक नहीं लगायेंगे। लेकिन राम ? राम क्या केवल व्यक्ति हैं ? क्या सचमुच ही यह युद्ध केवल सीता के लिये हो रहा है ? राम के आसपास घिर कर सारे पार्षद सोचते हैं। उसके पहले ही पिता की आत्मा एक दार्शनिक धरातल पर राम को युद्ध करने के लिए प्रेरित कर चुकी होती है—

पुत्र मेरे
संशय या शंका नहीं
कर्म ही उत्तर है
यश जिसकी छाया है
उस कर्म को करो।
....
सृष्टियां
गुण-धर्म हैं
किसी के प्रश्न का उतर नहीं

और हनुमान सामान्य जन के प्रतिनिधि के रूप में युद्ध की अनिवार्यता का समर्थन करते हुए कहते हैं—

हम साधारण जन
युद्ध प्रिय थे कभी नहीं
और न लंका युद्ध लड़ेंगे
युद्ध भाव से
महाराज।
साम्राज्य-वृत्ति के द्वारा
हम साधारण जन
अर्थ संभव कर दिये गये
....
हे रघुकुल तिलक !

हमारा यह सुन्दर दक्षिण प्रदेश
रावण
या अन्य किसी का
उपनिवेश हो
यह स्वीकार नहीं अब
किसी मूल्य पर

अर्थात् सारे पार्षद राम के व्यक्तिगत विकल्प के विरुद्ध यह सामाजिक संकल्प बार बार दुहराते हैं कि यह युद्ध व्यक्तिगत नहीं है, सामाजिक हैं और किसी का स्वत्व छीनने के लिए नहीं हैं सामाजिक स्वत्व की रक्षा के लिए है। फिर भी राम उसे स्वीकार नहीं करते और कहते हैं कि चाहे जो हो इस चक्र का कहीं अन्त नहीं है । संभव है इस युद्ध के प्रतिकार में फिर दूसरा युद्ध हो, जो सेतु हमने बांधा है शांति की स्थापना के लिए, उसी से भविष्य में लंका की आक्रमणकारिणी सेनाएं नये उपनिवेश की खोज में निकलें····फिर शान्ति कहां ? शांति कहां ? राम के इस प्रश्न का बहुत मामिक उत्तर देते हैं लक्ष्मण—

प्रभु ! क्षमा करें मेरे इस भाव को ।
क्या इस प्रश्न के
हम ही अन्तिम निर्णायक हैं ?
क्या हम ही अन्तिम मानवता हैं ?

और अंत में सामाजिक निर्णय राम को मानना ही पड़ता है कि युद्ध एक भिन्न प्रकार की परिस्थिति से जुड़कर मूल्य बन जाता है जिसके सामने एक व्यक्ति का निष्क्रिय शांति-स्वप्न, मूल्य-कल्पना मिथ्या पड़ जाती है इसलिए राम को कहना पड़ता है—

अब मैं निर्णय हूं
सब का
अपना नहीं
....

कवचित कर्म हूं
प्रतिश्रुत युद्ध हुं
निर्णय हूं सबका
सबके लिए ।

'संशय की एक रात' में चिन्तन और अनुभूति का बहुत घनत्व भले ही न हो किन्तु उसका प्रवाह तो है और प्रवाह यदि इतना न फैलता तो घनत्व का अभाव न होता। फिर भी कवि ने एक परिचित प्रसंग को नयी अर्थमत्ता दी है और उसे युग संदर्भ से जोड़ा है। अनुभवों के बहुत ताजे बिम्ब चिन्तन को प्राण देते चलते हैं और चिन्तन अनुभवों को दृष्टि प्रदान करता है। दशरथ और जटायु की आत्माओं से राम का संलाप कथ्य में नयी भंगिमा भरता है और इस प्रकार 'संशय की एक रात' का चिन्तन एक ओर लक्ष्मण हनुमान आदि के सामाजिक संदर्भ से जुड़ जाता है दूसरी ओर देह मुक्त आत्माओं के आध्यात्मिक संदर्भ से और दोनों संदर्भ अपने अपने ढंग से राम के व्यक्तिगत निर्णय से लड़ते हैं और एक तनाव पैदा करते हैं।

अंधायुग

'अंधायुग' प्रबन्ध काव्य न होकर एक गीति नाट्य है। किन्तु गीति काव्य का अलग से विवेचन न होने के कारण और नाटक तथा प्रबन्ध दोनों में ही कथा तत्व की प्रधानता होने के कारण इसे इसी प्रसंग में विवेचित किया जा रहा है। वैसे भी यहां मूल उद्देश्य प्रबंधकाव्य या गीति नाट्य का विधागत सांगोपांग सर्वेक्षण करने के स्थान पर उनमें व्यक्त जीवन-चेतना का उद्घाटन है इसलिए 'अंधायुग' को यहां आकलित करना अप्रासंगिक नहीं।

'अंधायुग' नयी कविता की बहुचर्चित और बहुत सशक्त कृति है। कवि ने महाभारत की कथा को लेकर आज के जीवन की गहन विसंगतियों, भयानक टूटन-विघटन, मूल्य-विच्छिन्नता, त्रास और द्वन्द्व को चित्रित किया है। 'महाभारत' अपने आप में आधुनिक काल की द्वन्द्वात्मक प्रकृति को व्यक्त करने में समर्थ है किन्तु कवि ने इस युद्ध की ख्यात घटनाओं, प्रसंगों और पात्रों को लेकर उनका ऐतिहासिक निर्वाह करते हुए भी उनका नियोजन इस दृष्टिकोण से किया है कि वे अपने भीतर से समग्रभाव से हमारे युग को ध्वनित करें। इसीलिए उसने कुछ तद्युगीन संदर्भों में सत्य दीखने वाले नये पात्रों और वस्तुओं की उद्भावनाएं भी की हैं। कवि की आधुनिक दृष्टि और आधुनिक संवेदना ने इतिहास की सारी सामग्री को उसके सारे स्वर को समेट कर आधुनिक काल की ओर उन्मुख कर दिया है और पात्रों, प्रसंगों को उनकी ऐतिहासिक सच्चाइयों में अक्षुण्ण रखते हुए भी आधुनिक मनोविज्ञान और समाजशास्त्र के आलोक में कहीं उन्हें नयी व्याख्याएं दी हैं, कहीं उनके पारस्परिक विनियोजन में नवीनता ला दी है। कहीं भी इतिहास पर वर्तमान

को लादे बिना कवि ने इतिहास को वर्तमान के अनुकूल कर दिया है। इसीलिए महाभारत का युद्ध अपने 'अंधेयुग' की स्थिति का परिचायक मात्र न रह कर एक प्रतीक भी बन गया है—आधुनिक युग के अंधेपन का प्रतीक।

कथा महाभारत युद्ध के अंतिम दिन से आरम्भ होती है। पुस्तक के प्रारम्भ में तूर्यनाद के उपरान्त जो कथा गायन हुआ है वह पुस्तक की मूल भूमि ही की ओर संकेत करता है। युद्ध युद्ध है उसमें चाहे कोई किसी भी कारण प्रविष्ट होता हो अन्त तक सत्य का निर्वाह नहीं कर पाता। इसलिए कथा गायन से यह स्वर उभरता है—दोनों पक्षों ने मर्यादा तोड़ी है पांडवों ने कम, कौरवों ने ज्यादा। इस युद्ध में दोनों पक्षों ने खोया ही खोया है, किसी को जय नहीं मिली। अंधापन जीत गया, विवेक हार गया और जो कुछ सुन्दर था, शुभ-था, कोमल था, वह पराजित हो गया।

पूरे युग पर अंधे ने शासन किया। धृतराष्ट्र अंधे हैं, उनकी ममता ने विवेक को पराजित कर दिया है इसलिए वे कुछ भी नहीं देख पाते—

देखेंगे कैसे वे ?
अंधे हैं।
कुछ भी क्या देख सके
अब तक
वे।

जो आशंका सबको पहले हिला गयी थी उससे अंधे शासक धृतराष्ट्र बेखबर थे। युग का शासक अंधा था इसलिए भीष्म, विदुर, कृष्ण के रूप में प्रज्ञा, विवेक, मूल्य, मर्यादा उससे टकरा टकरा कर लौट जाते थे और वह अंधा शासक अपनी अंधी ममता के वशीभूत होकर अपने स्वार्थ को अपने पुत्रों के रूप में शह दे रहा था क्योंकि वह बाहरी यथार्थ या सामाजिक मर्यादा को ग्रहण नहीं कर सका था, उसे वास्तविक संसार का बोध नहीं था—

पर वह संसार
स्वतः मेरे अन्धेपन से उपजा था।
मैंने अपने ही वैयक्तिक संवेदन से जो जाना था
केवल उतना ही था मेरे लिए वस्तु जगत्

और आज भी विवेक से नहीं अपने विनाश से बाहरी यथार्थ-जगत का बोध

उसे हुआ है, इसलिए यह बोध, यह ज्ञान उसे दृढ़ता देने के स्थान पर भय प्रदान कर रहा है। एक बड़ी विडम्बना यह है कि भविष्य भी याचक बनकर अंधों की, असत्य की जय बोलता है। वास्तव में वृद्ध याचक कवि की एक कल्पना है—यह और कोई नहीं, कौरवों के भीतर से उपजा हुआ भावी स्वप्न है जो द्वन्द्व में, लड़ाई में उनकी विजय देखता था लेकिन कौरव हार गए। उनका भविष्य, उनका भावी स्वप्न जीर्ण याचक सा असत्य सिद्ध होकर उन तक ही लौट आया और फिर यहां वहां मारा मारा फिर रहा है। इस भविष्य ने अपने को वर्तमान से काट कर देखा, स्वप्न ने अपने को यथार्थ से विच्छिन्न करके देखा, इसलिए उसकी वाणी मिथ्या सिद्ध हुई। वह स्वयं कहता है—

जब कोई भी मनुष्य
अनासक्त होकर चुनौती देता है इतिहास को
उस दिन नक्षत्रों की दिशा बदल जाती है
नियति नहीं है पूर्व निर्धारित
उसको हर क्षण मानव-निर्णय बनाता मिटाता है।

कृष्ण ने अनासक्त होकर इतिहास को चुनौती दी थी इसलिए उन्होंने पूर्व निर्धारित नियति को बदल दिया। कवि ने आधुनिक समाज शास्त्रीय चिन्तन और मानव-जिजीविषा को यहां स्वर दिया है। वर्तमान की सही पहचान, यथार्थ की तीखी चेतना ही जीवन को अर्थ देती है, नहीं तो भविष्य का कोई मूल्य नहीं होता। याचक भविष्य के शब्दों में कौरव नगरी में अनेक झूठे स्वप्न टूटे हुए पड़े हैं जो माता गांधारी की अन्धी ममता में पल रहे हैं। आधुनिक काल में भी अंधी ममताओं, स्वार्थान्ध-अपनेपन के परदे में यहां से वहां तक टूटे गलित स्वप्न बिखरे हुए है।

संजय तटस्थ, निर्भीक, विवेक शील शिल्पी का प्रतीक है। किन्तु अंधों की नगरी में वह भी भटक गया है।

वह संजय भी
इस मोह-निशा से घिर कर
है भटक रहा
जाने किस कंटक पथ पर

उसे व्यास ने बरदान दिया है कि—

हर संकट, युद्ध, महानाश, प्रलय, विप्लव के बावजूद

शेष बचोगे तुम संजय
सत्य कहने को

वास्तव में यह वरदान नहीं शाप है, एक अनवरत मानसिक यातना है जो कवि को मिली है। उसे हर परिस्थिति में सत्य कहना है, सत्य किससे ? अंधों से। संजय अश्वत्थामा के पंजों में कसा हुआ मृत्यु की कामना करता है—

कर दो बध
जाकर अंधो से
सत्य कहने की
मर्मान्तक पीड़ा है जो
उससे तो बध ज्यादा सुखमय है
बध करके
मुक्त मुझे कर दो
अश्वत्थामा।

आधुनिक युग में भी अंधों से सत्य कथा कहने की यातना कवि की यातना है। युद्ध के मूल कारणों की विवेचना करना या राष्ट्रीय अन्तर्राष्ट्रीय संघर्षों की योजना करना प्रस्तुत कृति का लक्ष्य नहीं है। प्रस्तुत कृति में कवि ने मुख्यतः युद्धोत्तर समाज की सारी टूटन, पराजय, प्रतिशोध, छटपटाहट, विकृति, यातना, असहायता का चित्र खींचा है किन्तु प्रकारांतर से युद्ध के एक सार्वजनीन कारण की ओर संकेत किया है और वह कारण है शासक की अंधी ममता का अतिरेक जिसके वशीभूत होकर वह सामाजिक यथार्थ की उपेक्षा करता है। इसके साथ ही कवि ने युद्ध की प्रक्रिया में दोनों ही पक्षों में उभरने वाली असत्य शक्तियों का उल्लेख किया है। किन्तु जैसा मैंने कहा है, इसमें मूलतः युद्धोपरान्त फैलने वाले भयानक अवसाद, अंधकार और यातना का बड़ा गहन चित्रण हुआ है। हर पात्र कहीं न कहीं टूटा हुआ है, अपने रास्ते से छूटा हुआ है। अश्वत्थामा पिता के लिए उत्तरा के पुत्र पर ब्रह्मास्त्र फेंकता है, न चाहते हुए भी कृपाचार्य उसका साथ देते हैं, संजय की दिव्य दृष्टि छिन जाती है और वह तड़पता हुआ कहता है—

व्यास ! क्यों मुझको दिव्य दृष्टि दी थी
थोड़ी सी अवधि के लिए
आज से कभी भी इस सीमित दृष्टि जगत से
मैं तृप्ति नहीं पाऊँगा

सीमाएं तोड़ कर अनन्त में समाहित होने को
प्यासी मेरी आत्मा रहेगी सदा ।

गान्धारी पीड़ा से विकल होकर कृष्ण को शाप देती है फिर आत्मग्लानि से रोती है । अश्वत्थामा अमर रह कर सड़ांध भोगने के लिए शाप ग्रस्त होता है, फिर वह आत्मग्लानि करता है और व्याध के हाथों कृष्ण का वध होता है । यहां से वहां तक प्रतिहिंसा और आत्मग्लानि, क्रोध और वेदना, प्रकाश और अंधकार के गहरे द्वन्द्व का प्रसार है, मानवमूल्यों की टूटन, बुझते हुए प्रकाश की छटपटाहट का बड़ा तीखा बोध उभरता है । युयुत्सु सत्य की 'ट्रेजेडी' का जीता जागता रूप है । वह अंधे धृतराष्ट्र का पुत्र है किन्तु वह ज्योतिवृत्त में रहना चाहता था इसलिए उसने अंधों का नहीं, पांडवों का पक्ष लिया । किन्तु उसे क्या मिलता है ? चारों ओर से उपेक्षा—मां बाप से उपेक्षा, पांडवों से उपेक्षा, प्रजा से उपेक्षा । और जिस कृष्ण में उसे अटूट विश्वास होता है वे शापग्रस्त हो जाते हैं । चारों ओर के इस भयानक अपमान और अनास्था से ऊब कर युयुत्सु आत्महत्या कर लेता है ।

युद्धोपरान्त प्राप्त होने वाली विजय कितनी श्रीहीन है-ब्रह्मास्त्रों से झुलसी हुई धरती हरी भरी हो आयी है, युधिष्ठिर का अभिषेक भी हो गया है किन्तु कौरव नगरी अपनी खोई शोभा नहीं प्राप्त कर सकी है—

सब विजयी थे लेकिन सब थे विश्वास-ध्वस्त
थे सूत्राधार खुद कृष्ण किन्तु वे शाप ग्रस्त
इस तरह पांडव-राज्य हुआ आरंभ, पुण्यहत, अस्त व्यस्त

+ \+ \+

थे एक युधिष्ठिर
जिनके चिन्तित माथे पर
थे लदे हुए भावी विकृत युग के सपने

+ \+

सीढ़ी पर बैठे घुटनों पर माथा रक्खे
अक्सर डूबे रहते थे निष्फल चिन्तन में
देखा करते थे सूनी सूनी आंखों से
बाहर फैले फैले निस्तब्ध तिमिर घन में

इस अवसाद को और घना कर जाती है प्रभु की मृत्यु। किन्तु वह मृत्यु एक व्यक्ति की नहीं है उसकी है जो सबकी पीड़ाएं सबका दायित्व अपने भीतर वहन करता रहा है। गान्धारीके पुत्रों को मरवा कर भी वह गान्धारी का पुत्र है, अश्वत्थामा को शाप देकर स्वयं उसकी वेदना को भोगता है इसीलिए तो गान्धारी से कृष्ण कहते हैं—

प्रभु हूं या परात्पर
पर पुत्र हूँ तुम्हारा तुम माता हो।
मैंने अर्जुन से कहा
सारे तुम्हारे कर्मों का पाप-पुण्य, योग क्षेम में
वहन करूंगा अपने कंधों पर
अट्ठारह दिनों के इस भीषण संग्राम में
कोई नहीं केवल मैं ही मरा हूं करोड़ों बार
अश्वत्थामा के अंगों से
रक्त, पीप, स्वेद बन कर बहूंगा
मैं ही युग युगान्तर तक

इसलिए सबके दायित्वों और वेदनाओं को लेकर मरने वाले कृष्ण वास्तव में मरते नहीं। वे सबके भीतर अपना दायित्व छोड़ जाते हैं—ज्योति का दायित्व, आस्था का दायित्व। प्रभु के मरने के बाद भी अंधे युग में (जो केवल द्वापर में ही समाप्त न होकर आज तक फैला है) उनके दायित्व की अनुभूति से भरा हुआ हमारे मन का एक अंश हमें अर्द्ध सत्य, ब्रह्मास्त्रों के भय, पराजय, टूटन, आत्महत्या से बचाता रहेगा। किन्तु अर्द्धसत्य की पीड़ा के भीतर से पूर्ण सत्य की खोज की तड़प उनके लिए है जो जीवन जीते हैं उन पहरेदारों को क्या जो आदि से अन्त तक गलियारे में ही घूमते रहे—जो न कहीं टूटे, न कहीं जुड़े।

८

नये गीत

८. नये गीत

गीत एक विधा है—और समसामयिक परिवर्तनों के साथ चिरंतन विधा है। यह मात्र अन्वेषित नहीं बल्कि मानव-मन की सहजात विधा है। मनुष्य एक राग-बोधमय प्राणी है। उसका यह राग-बोध समूचे भाव से उससे कभी नहीं छिन सकता। वह अन्य तत्वों के दबाव में क्षीण हो सकता है, जटिल हो सकता है किन्तु अस्तित्वहीन कभी नहीं हो सकता। युगीन संदर्भों में मानव-मन के संवेगों को नया-नया रूप प्राप्त होता रहता है। लेकिन इन संवेगों को गाने के लिये मानव-मन में बेचैनी रहा करती है। यह सत्य है कि आज के व्यक्ति के सुख-दुःख, राग-विराग की संवेदना आदिम-काल के मानव की संवेदना की तरह प्रत्यक्ष, सीधी और आवेगात्मक नहीं हैं—उसमें बौद्धिक युग की बहुत ही जटिलताएँ आ गई हैं। इसलिए आज की संवेदना आदि-कालीन, मध्युगीन और आधुनिक काल के रूमानी गीतों की संवेदना की तरह एक लय में वेग से फूट नहीं चलती बल्कि वह एक विशिष्ट मानसिक स्थिति में अपने अनुकूल बिखरे हुए संवेगों से जुड़ती है। यानी एक संवेग दूसरे में संक्रांत होता हैं। ये संक्रांत संवेग एक आन्तरिक एकता से अनुशासित होते हैं। देखने में ये संवेग अलग-अलग मालूम पड़ते हैं, परन्तु मूलतः आन्तरिक संगीत से जुड़े होते हैं। आज का यह भाव-सत्य नयी कविता और नये गीत दोनों में व्यक्त हो रहा है। इन संक्रांत संवेगों को रूपायित करने के लिए कवि को अनिवार्य रूप से बिम्बों, प्रतीकों और लाक्षणिकता की योजना करनी पड़ती है। बिम्बों और प्रतीकों के बिना संवेगों की संश्लिष्टता और सूक्ष्मता व्यंजित नहीं हो पाती।

नई कविता के लेखक गीतों का विरोध करते हैं—इसलिये कि गीत युग के नए संदर्भों में विकसित संवेगों और चिन्तनाओं को व्यंजित न कर सीधे-सादे रोमानी भाव एक पिटी हुई लीक पर अलापते चलते हैं, दूसरे, इनका रूप-पक्ष पूरी तरह पारम्परिक और बनावटी है। कुछ नए कवि तो स्पष्टतः यह घोषित करते हैं कि गीत आज के लिये असमर्थ और अर्थहीन माध्यम है। इसका अर्थ तो यह हुआ कि वे नये कवि जो कुछ लिखते हैं वह गीत न होने के कारण अपने आप अच्छा और समर्थ काव्य बन जाता है।

इस प्रकार की अतिवादी धारणाएँ सनक, अपरिपक्व चिन्तन और असहिष्णुता का ही परिणाम हैं। कवित्ता होने के लिये कविता को कुछ मूलभूत विशेषताओं से संयुक्त होकर नये-नये प्रयोगों से स्वयं को प्रक्षालित करते रहना होता है। गीत और नई कविता गीत या नई कविता होने से काव्य नहीं बन जाते। मैं नई कविता की इस अतिवादी धारणा का विरोध करता हूँ—यद्यपि कुछ दूर तक इस धारणा की सत्यता का समर्थक भी हूँ। कहना चाहूँगा कि विगत युगों की भाँति यह युग केवल गीत-जीवी होकर नहीं रह सकता। नई कविता आज की जटिलता को व्यक्त करने के लिये एक उपयुक्त विधा है। वह छन्द धर्मा होकर, आवेग-धर्मा होकर आज के जीवन की जटिल संवेदना और भिन्न-भिन्न लय को नहीं व्यक्त कर सकती। जीवन के अनन्त छोटे-बड़े कोणों को परिपाटी-बद्ध दृष्टि और शैली से नहीं छू और उभार सकती। उसे वही होना था जो आज है। किन्तु इतने मात्र से ही गीत के अस्तित्व की अनिवार्यता चुक नहीं जाती। यह सत्य है कि आज के युग की सारी जटिलताएँ गीतों के माध्यम से नहीं उभारी जा सकतीं, किन्तु कुछ कथ्य अपने स्वरूप में आज भी गीतात्मक हो सकते हैं।

जहाँ मानव-मन किसी सौन्दर्य, राग, सत्य के किसी कोण से गहरे छू जाता है वहां गीत की भूमि होती है। यह कथ्य अपेक्षाकृत आत्म-प्रधान होता है, यह विश्लेषणपरक, बुद्धि-बोझिल, लम्बा और जटिल नहीं होता। गीत की अनिवार्य विशेषताएँ ये मानी जा सकती हैं: १. स्वानुभूति की तीव्रता। २. संक्षिप्त लघु आकार। ३. प्रभाव की समग्रता। स्वानुभूति बड़े महत्त्व का तत्व है। इसमें कवि के व्यक्तित्व की जीवंतता, दृष्टि की नवीनता समाहित होती है। जीवंत व्यक्तित्व और उन्मुक्त दृष्टि वाला ही नया अनुभव कर पाता है। उसकी अनुभूति युग के संदर्भों से नया ताप प्राप्त करती है। युगीन संदर्भों में जीने वाले व्यक्ति का संवेग-स्तर और सौन्दर्य-बोध पिछले युग के संवेग-स्तर और सौन्दर्य-बोध से नया होता है और यही नवीनता उसकी अनुभूति को मौलिकता और ताज़गी प्रदान करती है। प्रभाव की अन्विति या समग्रता गीत की आकार-लघुता से काफी दूर तक सम्बद्ध है। गीत की अनुभूति एकांगी अनुभूति है। वह उसी एकांगी अनुभूति को तीव्रता के साथ व्यंजित करना चाहता है, ताकि उससे एक तीव्र प्रभाव फूट सके। यानी गीत में प्रभाव का बिखराव नहीं बल्कि समग्रता या एकता व्याप्त होनी चाहिये। प्रभाव की इस समग्रता के लिये गीत का आकार-लघु होना अनिवार्य हो जाता है।

हिन्दी में प्रायः हुआ यह है कि गीतों को मात्र एक आकार मान लिया गया है। उस आकार में जितनी सामग्री ठूँसी जा सकती है, ठूंसी गई है। तुकों की समाप्ति तक उसे जबरदस्ती खींचा गया है और तब तक नहीं छोड़ा गया है जब तक उसका केन्द्रीय प्रभाव तार-तार होकर बिखर नहीं गया है। इन गीतों के छन्द, तुक, शब्द, शैली, अलंकार, प्रतीक सभी बुरी तरह पिट कर बासी हो गए हैं। इसीलिए नया कवि गीतों से घृणा करने लगा है। उन्हें आज के लिए अपर्याप्त और अनावश्यक मानने लगा है।

किन्तु गीत की इस व्यावहारिक फूहड़ता के कारण उसकी मौलिक शक्तियों से इन्कार नहीं किया जा सकता। और शायद इन्हीं शक्तियों के कारण बहुत से अच्छे नए कवि अच्छे गीतकार भी हैं—यह आकस्मिक भी नहीं है। उनके इन गीतों की तरलता, अनुभूति-सघनता, प्रभावान्विति का असर उनकी नई कविताओं पर भी पड़ता रहता है। प्रचलित रंग-मंचीय फूहड़ गीतों से अलग करने के लिए इन गीतों को 'नये गीत' कह सकते हैं। समसामयिक नये गीतकारों में प्रमुखतः अज्ञेय, गिरिजाकुमार माथुर, भारती, नरेश मेहता, शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, केदार नाथ सिंह, रवीन्द्र-भ्रमर, महेन्द्र शंकर, ओम प्रभाकर और नरेश सक्सेना आदि के नाम लिये जा सकते हैं। मेरे प्रयास भी इसी दिशा में हुए हैं।

वैसे इन सभी गीतकारों के अपने-अपने व्यक्तित्व हैं, किन्तु इनकी एक सामान्य भूमि भी है जो इन्हें समग्र-भाव से अलग करती है उन गीतों से जो गीत के नाम पर गीत ही नहीं हैं और सब कुछ हैं। अनुभूति की सच्चाई अतएव अनुभूति की अपनी-अपनी विशिष्टता, नवीन सौन्दर्य-बोध, आकार-लघुता, नवीन बिम्ब-प्रतीक-उपमान-योजना इनकी सामान्य विशिष्टता है। अतएव ये गीत प्रभाव की अन्विति से अन्तर्दीप्त मालूम पड़ते हैं। इन सभी गीतों में लोक-जीवन का रस है। लोक-जीवन का रस इस अर्थ में नहीं कि इन्होंने प्रचलित गीतों की तरह लोक-भाषा से दूध-बताशा, पनघट, बँसवट, चुनरिया, ओढ़नियाँ आदि अनेक शब्द लिए हैं, बल्कि इसमें है कि इन्होंने लोक-जीवन की वस्तु-चेतना को पकड़ा है. उसकी संवेदना को ग्रहण किया है। ये गीत जहाँ से उठे हैं वहाँ की जमीन के रस को लिए हुए हैं। अतः इन गीतों में शहरी, गँवई, व्यक्तिगत, सामाजिक, प्रेम की, प्रेमेतर प्रकार की संवेदनाओं के विभिन्न स्वरूप कवियों के व्यक्तित्वों और मानस-संस्कारों के अनुसार लक्षित होते हैं। दूसरी बात यह है कि नये गीत में बासी रस-पिच्छलता नहीं है,

अन्तर की दमक है। यानी इन गीतों की उपलब्धि इनके तरल-सरल रसमय उच्छल प्रवाह और आवेगों में नहीं है, बल्कि इनकी बुद्धि-संयत हार्दिकता, संवेदना के अनुभूत सूक्ष्म स्तरों के नियोजन, एक विशेष प्रभाव-भूमि के अन्तर्गत आने वाले बिखरे किन्तु एक-दूसरे से संक्रमित बोधों के संश्लेषण और अनुकूल बिम्बों, प्रतीकों और लाक्षणिक प्रतीकों की खोज में है। कवि अपने-अपने संस्कार के अनुसार इस सामान्य भूमि पर नूतन बिम्ब-प्रतीकों का विधान करते चले हैं।

गीतों के संदर्भ में लोकतत्व की बात कही गई है जो स्वयं में काफी महत्वपूर्ण है। गीत स्वानुभूतिमूलक होते हैं—किन्तु ये अनुभूतियाँ लोक-जीवन के निरन्तर सम्पर्क से ताज़गी और शक्ति प्राप्त करती हैं। लोक-जीवन गीत के भाव-सत्य और उपकरण दोनों रूपों में उसे उपकृत करता है।

वैदिक ऋषियों के प्रकृति-गीत लोक-जीवन की आँच से उष्म होने के कारण ही इतने ताजे और प्रभावकर दिखाई पड़ते हैं। किन्तु लोक-जीवन को ऊपर से ओढ़ने पर गीत नहीं बनता। अनुभूति की सच्चाई गीत के लिए आवश्यक शर्त है। वह अनुभूति यदि व्यक्तिगत प्रेम की है तब भी तीव्र प्रभावशाली गीत उत्पन्न हो सकता है; किन्तु यदि लोक-जीवन की अनुभूतियों को कवि ने लिया है तो गीत और भी प्रभावशाली और सशक्त होगा।

अनुभूति की सच्चाई, एकतानता और निश्छल अभिव्यक्ति के नाते बच्चन के गीत उत्तर छायावादी गीतों की निधि हैं। महादेवी का काव्य भी गीतात्मक है किन्तु न तो उसमें वह प्रभावान्वित है, न अनुभूति की वह सच्चाई। बच्चन के गीत बिल्कुल निजी अनुभूतियों से उष्म हैं किन्तु उनका वातावरण लोक-जीवन का है। यानी कवि का अपना दर्द सूने में नहीं तैरता, बल्कि लोक-जीवन के विविध संदर्भों और दृश्यों के बीच बहता है।

प्रगतिवाद ने गीतों को नई दिशा दी। उसका सामाजिक स्वर गीतों से उभरा। गीत व्यक्तिवादी वेदना, निराशा और हार-जीत के गायक न रह कर सामाजिक जीवन के गायक बने। लगा जैसे घुटन से भरे वातावरण में ताज़ा हवाएँ आई हों, उजास फूटा हो। लोक-जीवन की हरियाली और रस गीतों में मुखर होने लगे। शुद्ध प्रेम और सौन्दर्य की कविताओं में भी एक खुलापन दीखा, जमीन के प्रति प्यार उभरा। प्रगतिवादी गीतकारों में केदारनाथ अग्रवाल, त्रिलोचन शास्त्री और सुमन का नाम आदर से लिया जा

सकता है। यह अवश्य है कि प्रगतिवादी गीत बहुत से असधे हाथों पड़कर प्रचार के माध्यम से बन गये।

केदारनाथ अग्रवाल के 'नींद के बादल' के गीत काफ़ी दूर तक छायावादी प्रभाव से ग्रस्त मालूम पड़ते हैं; यद्यपि उनकी सीधी-साधी अभिव्यक्ति और अनुभूति की सच्चाई के कारण इन कविताओं का भी अपना व्यक्तित्व है। इसके पश्चात् इनके गीत—जो 'युग की गंगा' में संगृहीत हैं—विस्तृत फलक पर जन्म लेते दिखाई पड़ते हैं। इनमें जन-जीवन के सौंदर्य, उल्लास के साथ ही अभाव, विषाद और संघर्ष भी भरपूर मात्रा में दृष्टिगत होता है। 'माँझी न बजाओ वंशी', 'बसंती हवा', 'कनक प्रात', 'कगार', 'विदा' जैसे अनेक गीत अपनी सहजता, अनुभूतिगत सचाई और ताज़ा संक्षिप्त कथन-पद्धति के कारण सफल गीत बन गए हैं। केदार के गीतों में संक्षिप्तता होती है; अतः वे प्रभाव की समग्रता को सुरक्षित रखते हैं।

त्रिलोचन के गीतों में उनका संघर्षशील व्यक्तित्व, सामाजिक बोध लोकोन्मुख दृष्टि और सहज-सधी हुई अभिव्यक्ति खूब उभरी है। उनके गीतों में अन्य प्रगतिशील कवियों की तरह संघर्ष, सामाजिक चेतना आदि के स्वर आरोपित नहीं लगते, भीतर से फूटे जाने पड़ते हैं। दूसरी बात यह है कि त्रिलोचन कला के भी मर्मज्ञ हैं। अतः वे उसके प्रति पूरी ईमानदारी बरतते हैं। उनके गीतों में सादगी है, परन्तु उस सादगी के पीछे एक अद्भुत संयम और कसाव है। त्रिलोचन के गीतों में सम्वेदना की विविधता, शब्दों, चित्रों और बिम्बों में लोक-गीतों की सी सहजता वस्तुतः दृष्टव्य है।

सुमन ने गीतों का दो तरह से उपयोग किया है—शुद्ध गीत के रूप में और मात्र छन्द के रूप में। छन्द के रूप में जहां गीत आए हैं वहां वे मात्र इतिवृत्त निरूपक होकर रह गये हैं। वास्तव में वे इसी अर्थ में गीत कहे जा सकते हैं कि उनमें गीत जैसी टेक और अन्तरे का विधान है। किन्तु सुमन के शुद्ध गीतों में आत्म-मुखता है। उनका अपना सौंदर्य-बोध और प्रकृति-प्रेम वहां सफलता से व्यक्त हुआ है। ये गीत आकार में छोटे और प्रभाव में तीव्र हैं। 'कितनी बार तुम्हें देखा, पर आंखे नहीं भरीं', 'आज रात भर बरसे बादल', 'फागुन में सावन' आदि गीत उल्लेख्य हैं। लेकिन बहुत से गीतों का कथ्य भी तथ्यात्मक है।

नये गीत का क्रम शुरू होता हैं नई कविता के साथ, यानी अज्ञेय से। जिसे हम नया गीत कहते हैं, वह उपरोक्त परम्पराओं के गीतों से कई अर्थों में भिन्न है। वह गीतों की चुकती हुई सम्भावनाओं को नए ढ़ंग से स्थापित करता है। यहाँ से गीत अपने कथ्य और स्वरूप, दोनों में अधिक सूक्ष्म और महींन दीखने लगे। सूक्ष्म इस अर्थ में कि कवि प्रचलित भावों और रूपों का विधान करने के स्थल पर स्वानुभूत जीवन की विशिष्ट मार्मिकता को पकड़ने लगा। वह चाहे रूप हो, दृश्य हो, भाव हो, कवि उसकी स्वानुभूत आन्तरिकता को मुखर करने लगा। कहा जा सकता है कि आन्तरिकता तो छायावाद में भी है, किन्तु उसमें सहजता नहीं है। सहजता आती है जीवन के साथ सीधे सम्पर्क से। सीधा सम्पर्क कवि में नए-नए अनुभव भरता है या पुराने अनुभवों को नई छवि से दीप्त करता रहता है। इस नये अनुभव में सूक्ष्मता तो होती ही है, सच्चाई जन्य मूर्तिमत्ता भी होती है। लोक-जीवन के स्तर पर यह सूक्ष्मता और सहजता एक-दूसरे के पर्याय बन जाते हैं। नये गीत में अनुभव की बेहद सच्चाई हैं। ये जीवन की सच्चाइयों को पाना चाहते हैं, अतः लोकोन्मुखता इनका विशेष धर्म बन गई है।

नया गीत लिखने वालों का कोई दल नहीं है, दल बन भी नहीं सकता। सारे नवगीतकार अपने-अपने व्यक्तित्व में एक दूसरे से अलग हैं—अनुभूति, जीवन-दृष्टि और अभिव्यक्ति के स्तर पर एक दूसरे से भिन्न हैं। यदि उनमें कोई सामानता है तो यही कि वे भाव और रूप की प्रचलित लीकों से हटकर स्वयं के अनुभव और सौंदर्य-बोध के अनुसार जीवन-सत्यों को ईमानदारी से व्यक्त करना चाहते हैं। किसी का भाव-बोध अधिक जटिल है तो किसी का अपेक्षाकृत सरल, किसी की सम्वेदना अधिक व्यक्तिगत है तो किसी की अधिक सामाजिक, किसी के संस्कार शहरी परिवेश के हैं तो किसी के देहाती, कोई प्रयोगवादी कविता के अन्तश्चेतनावादी स्वर से अधिक प्रभावित है तो कोई प्रगतिवादी कविता के सामाजिक स्वर से, कोई प्राकृतिक क्षेत्र में फैले ग्राम-जीवन की ओर अपने को विस्तृत करना चाहता है तो कोई यंत्रपरिवेश में लिपटी नागरिकता में स्वयं को खोज रहा हैं। कोई गीत को पूरें लय-ताल और छन्द के निर्वाह के साथ निभाना चाहता है तो कोई खंडित लय-ताल का विधान करना चाहता है, कोई अपने चित्रों, बिम्ब-प्रतीकों और उपमानों में अधिक व्यक्तिवादी है तो कोई अधिक सामाजिक।

इस विभिन्नता के बावजूद इन सब में प्रभाव-संगठन, आकार की लघुता और ताज़गी का एक साम्य दिखाई पड़ता है।

अज्ञेय ने वैसे तो बहुत से गीत लिखे हैं किन्तु नये गीत की परम्परा में आने वाले उनके गीत संख्या में थोड़े ही हैं। चिन्ता तक के उनके गीतों पर छायावाद का काफी प्रभाव है। नयी कविता के साथ चलने वाले उनके गीत 'इत्यलम्' से शुरू होते हैं किन्तु वे बहुत थोड़े हैं। अज्ञेय नए कवियों में सबसे अधिक व्यापक सम्वेदना और अनुभव के कवि हैं। अतः जहाँ तक सम्वेदना और अनुभूति का प्रश्न है अज्ञेय की कविताओं और गीतों में भी वैविध्य लक्षित होता है। उनमें स्वानुभूति की तीव्रता, बौद्धिकता का संयम और निरीक्षण की सूक्ष्मता होती है। प्रकृति चित्रों का विधान करते समय भी प्रकृति की तरलता में बहते नहीं, भीतर के उन्मेष को एक प्रौढ़ व्यक्ति की तरह संजोकर नियोजित करते हैं। कहीं-कहीं जहाँ वे आदिम भाव से छू जाते हैं, वहाँ थोड़े से तरल हो जाते हैं—जैसे 'ओ पिया पानी बरसा' गीत में। अज्ञेय ने छंद के क्षेत्र में स्वाधीनता बरती है। कवि छंद की पंक्तियों को लय तो देता है, परन्तु उन्हे भाव-लय के अनुसार छोटी-बड़ी करता रहता है। कहीं-कहीं लय को तोड़ कर उसे दूसरा मोड़ दे देता है। कहीं-कहीं गद्य का पुट देकर सहजता प्रदान करता है। 'पानी बरसा', 'शरद', 'वहाँ रात', 'ऋतुराज', और 'केतकी पूनो' अज्ञेय के प्रतिनिधि नयेगीत ही हैं।

गिरिजाकुमार माथुर के गीतों में राग-तत्व अधिक है। इसे परिमार्जित रूमानियत भी कहा जा सकता है। अज्ञेय के गीतों में सधी हुई बौद्धिकता है जो उनके आदिम वासना वाले गीतों को भी कवि से निर्लिप्त बनाये रखती है इनका भाव-बोध, शब्द प्रयोग, बिम्ब-विधान सभी रूमानी ढंग का है। चूंकि इनके गीतों का अन्तस्सम्बंध जन-प्रकृति से होता है अतः कवि की जो रूमानी सम्वेदना उभरती है वह विस्तृत फलक पर विन्यस्त दिखाई पड़ती है। माथुर के गीतों में रंगों का चटकीलापन और इन्द्रिय-बोधों की सजीव चित्रात्मकता पंत जी का स्मरण कराती है। माथुर अनुभूति की सचाई वाली छोटी-छोटी गद्य-कविताओं को भी गीत मानते हैं। यानी यह कि गीत के लिए लय-ताल की आवश्यकता नहीं है। यह एक अलग चर्चा का विषय हो सकता है किन्तु इतना सच है कि बहुत सी छोटी-छोटी अनुभूतिजन्य कविताएं अपने प्रभाव की एकता, आकार-लघुता और क्षिप्रता के कारण प्रकृतितः गीत ही होती हैं; जैसे कि बहुत से ताल-तुक-लय से युक्त गीत अनुभूति और

प्रभाव-एकता के अभाव में गीत नहीं होते। माथुर ने गीतों में नए प्रयोग किए हैं तुकांतों में स्वतंत्रता बरतीं है, लय को तोड़ा है, पंक्तियां छोटी बड़ी रखी हैं :

धर्मवीर भारती अनुभूति और अभिव्यक्ति के रूमानीपन के कारण माथुर के वहुत निकट जा पड़ते हैं। लेकिन गिरिजा कुमार के रूमानी संस्पर्शों वाले गीतों में जहां सांकेतिकता और सूक्ष्मता है वहां भारती की प्रारम्भिक कविताओं में मांसल रंगीनी, आवेश, भावना की संयम-न्यूनता और रूप के उभार का आधिक्य है। इसलिए भारती के चित्र अधिक उभरे हुए हैं। भारती में आदिम पीड़ा का आकर्षण है, लोक-जीवन के चित्रों के प्रति अनुराग है। लोक-चित्रों के बीच जहाँ वे आदिम पीड़ा को उभारते हैं वहाँ उनका गीत लोक-गीतों की सी आन्तरिक व्यथा और उल्लास से भर जाता है। किन्तु जहाँ वे रूप-लुब्ध होकर प्रणय-निवेदन करते हैं या अपनी प्यास व्यक्त करते हैं वहाँ सारे नवीन रूमानी प्रयोगों के बावजूद उनकी कैशोर भावुकता उभर आती है—यथाः 'गुनाहों का गीत' में। किन्तु भारती के इधर के गीतों में रूप की मांसलता के स्थान पर संवेदना की गहराई, उभार के स्थान पर सांकेतिकता और आवेग के स्थान पर संयम उगा है। 'सात गीत वर्ष' के गीतों में या 'कनुप्रिया' की गीतात्मक मनःस्थितियों में हमें दर्द या उल्लास की एक ऐसी अन्तर्वर्ती धारा दिखाई देतीं है जो अपनी निर्व्याजिता में बड़ी मोहक है। इन गीतों में संवेगों का पारस्परिक संक्रमण और प्रश्नाकुलता भी लक्षित होती है, चिंतन के स्वर भी उभरे हैं। 'फागुन की शाम' की कुछ पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं :—

'घाट के रस्ते उस बँसवट से
इक पीली सी चिड़िया
उसका कुछ अच्छा सा नाम है
मुझे पुकारे, ताना मारे
भर आएँ आँखड़ियाँ
उन्मन यह फागुन की शाम है।

शम्भुनाथ सिंह का गीतकार कई संस्कारों से जुड़ता और उन्हें तोड़ता हुआ, युग-चेतना के प्रति प्रबुद्ध होता हुआ विकास करता गया है। आरम्भिक कविताएँ छायावादी संस्कार में लिखी गई हैं जिनमें कोमलकांत पदावली में व्यक्तिगत प्रेम और सौंदर्य के स्वर सुनाई पड़ते हैं। आगे चलकर कवि

प्रगतिवाद का सामाजिक स्वर स्वीकार करता है। किन्तु वह स्वर लगता है कवि के जीवन से नहीं फूट सका है और उसे उसने अपने दायित्व-बोध के फलस्वरूप स्वीकार किया है। हाँ, प्रगतिवाद के प्रभाव से कवि लोक-जीवन की ओर उन्मुख अवश्य हुआ है : फलस्वरूप लोक संवेदना को लेकर लोक-परिवेश में कवि ने कुछ बहुत ताजे और व्यक्तित्वपूर्ण गीत लिखे हैं। शम्भुनाथ सिंह के गीतों में संवेदना की नवीनता ही नहीं आई है, वैविध्य भी आया है; संश्लिष्टता और सूक्ष्मता भी आई है। 'और कहाँ तक ले जाओगे मन मेरे' गीत में मानव की निर्वाध प्रगति का बड़ा ही सांकेतिक अंकन हुआ है। शम्भुनाथ सिंह मूलतः तरल प्रकृति के कवि हैं। अतः वे अपने गीतों में चाहे जहां की भी संवेदना दे रहे हों तरलता और स्निग्धता को बनाए रखते हैं। अतः उनकी शब्द-योजना में जहां एक ओर बड़ी ही अन्विति दीखती है वहां दूसरी ओर एकरसता।

नरेश मेहता ने वैदिक गीतों के परिवेश में प्रकृति के कुछ मौलिक और बड़े ही सजीव चित्र अंकित किए हैं। इन गीतों में भी रूमानीपन है, परन्तु श्रृंगारिक नहीं, प्रकृति सम्बन्धी। प्रकृति के उन उपकरणों को नए परिवेश में नियोजित कर उन्हें मानवीय रूप और बोध दिया गया है। आदिम प्रकृति बड़े ही चित्रात्मक रूप में उभरी है। 'उषस्' के चारों गीत, 'जन गरबा-चरैवेति' तथा 'उषस : अश्व की वल्गा' आदि गीत नरेश के ऐसे श्रेष्ठ गीत हैं जिनमें प्रकृति का मानवीकृत, ताज़ा और सशक्त रूप उभरा है। 'पीले फूल कनेर के' जैसे गीतों में रूमानी रूप ही नहीं रूमानी सम्वेदना भी उभरी है। नरेश नेहता के गीतों के बिम्ब पौराणिक, वैदिक और प्राकृतिक परिवेश के बीच से चुने गए हैं।

वैसे तो नई कविता लिखने वाले अनेक कवि गाहे-ब-गाहे गीत लिख लेते हैं किन्तु गीतों के क्षेत्र से विशेषतः सम्बद्ध हैं, शम्भुनाथ सिंह, ठाकुर प्रसाद सिंह, जगदीश गुप्त, केदारनाथसिंह और रवीन्द्र भ्रमर। ठाकुर प्रसादसिंह का 'वंशी और मादल' बहुत ही महत्वपूर्ण गीत संग्रह है। संथाली-जीवन के प्रेम के उछाह और दर्द को कवि ने सार्थक वाणी दी है। 'वंशी और मादल' के प्रेम-गीत प्रेम की हाट लगाने वाले पिछले गीतों के समान फैले हुए या कि पिष्ट-पेषित नहीं हैं। वे तीव्र, सूक्ष्म तथा अनुभव की गहनता और मार्मिकता से स्पंदित हैं। ये गीत आकार में अत्यन्त छोटे हैं। एक अनुभूति सहजतः जितना आकार ले सकती है बस, वहीं तक ले जाकर छोड़ दी गई

है, उसे तुक-ताल के मोह में अनावश्यक रूप से खींचा नहीं गया है। लोक-चित्रों, लोक-बिम्बों और लोक-प्रतीकों से युक्त ठाकुर प्रसाद सिंह के ये नयेगीत यदि एक ओर सांकेतिक हैं तो दूसरी ओर सहज और संवेद्य।

जगदीश गुप्त नई कविता के प्रौढ़ समर्थक होकर भी गीतों के विरोधी नहीं हैं, बल्कि गीत रचना में उनकी रुचि गहन है। ये अपने गीतों में किसी एक रूप, किसी एक दृश्य की बारीक रेखा को पूर्णतः उभार कर रख देते हैं, और उन रेखाओं से जो चित्र बनता है वह प्राचीन शैली के चित्रों सा आकृति-मूलक नहीं होता है। हाँ, यह अवश्य कहा जा सकता है कि उनकी रेखाओं के पीछे जितनी सूक्ष्म निरीक्षण की दृष्टि होती है उतनी भाव-स्पदित अनुभूति नहीं। वे राग को चित्रों से बहुत दूर तक नहीं जोड़ पाते। फिर भी, चित्रात्मक सांकेतिकता, रूप की संश्लिष्टता और उससे उद्भूत प्रमावान्विति इनके गीतों में दर्शनीय होती है।

केदारनाथ सिंह प्रकृति से ही गीत-कवि हैं। गिरिजाकुमार की भांति वे भी अनुभूति की ऐकांतिकता और तीव्रता वाली अछन्दात्मक कविताओं को भी गीत कहते हैं। उनके अधिकांश गीत प्रकृति सम्बन्धी हैं। किन्तु उनकी प्रकृति किसी चित्रकार की अपेक्षा कवि के राग-बोध से गहनतः सम्पृक्त प्रकृति है। चूंकि केदारनाथ सिंह की प्रकृति लोक-जीवन के भीतर फैली हुई है, इसलिए उसके मूल संवेदन स्वर उसमें मुखर हैं। कवि प्रकृति को मात्र चित्रण हेतु नहीं बल्कि प्रत्येक रेखा के भीतर से संवेदना का स्वर उभारने के लिए अंगीकृत करता है। यह व्यक्ति जैसे लोक-सम्वेदना का भोक्ता व्यक्ति है। अतः उसकी निजी अनुभूति लोकानुभूति बन जाती है। या यों कहिए कि एक संवेदनशील व्यक्ति प्रकृति के परिचित दृश्य, व्यापारों के बीच जिन सूक्ष्म प्रभावों और अदृश्य बोधों को ग्रहण-सा करता है (मगर कह नहीं पाता) उन्हें केदारनाथ सिंह ने अनुकूल बिम्बों और लाक्षणिक प्रयोगों द्वारा ध्वनि दी है। यथा फागुन के दिनों की अव्यक्त मिठास, कसमसाते हुए उल्लास और उसके बोध के सूक्ष्म स्तरों को कवि ने इस प्रकार वाणी दी है :

'ये बांधे नहीं बंधते बाँहें रह जातीं खुली की खुली
ये तोले नहीं तुलते इन पर ये आँखें तुली की तुली
ये कोयल के बोल उड़ा करते इन्हें थामे हिया रहता !

केदारनाथ सिंह के गीतों में लोक-जीवन के छन्द, ताल, लय, बिम्ब

प्रतीक के सफल प्रयोगों के कारण एक अद्भुत ताज़गी, सम्वेदना की सहजता तथा आंतरिकता आ गई है।

रवीन्द्र भ्रमर का निजी व्यक्तित्व उनकी छन्द-मुक्त कविताओं की अपेक्षा गीतों में अधिक स्पष्ट हुआ है। भ्रमर ने भी गीतों का रचनारम्भ छायावादी प्रभाव की छाया में ही किया, किन्तु निरंतर वे जीवन की सहजता और गीत-कला की मूल धर्मिता के प्रति भी सजग होते गए। इसीलिए इनके नये गीतों में अनुभव की सच्चाई और लोक संवेगों के प्रति उन्मुखता द्रष्टव्य है। कहीं-कहीं बड़े ही ताजे बिम्ब प्रयुक्त हुए हैं, यथा—'सीढ़ी से सरक गई धूप, कलशों पर ठहर गई शाम' गीत में। किन्तु फिर भी ऐसा लगता है कि भ्रमर के गीत समग्र रूप से लोक-जीवन की जीवंत चेतना से उतने सम्पृक्त नहीं हैं जितने कि उसके रूमानी वातावरण से। प्रचलित प्रेम-भावना, लोक-शब्दावली तथा भुक्त सौन्दर्य को ही स्वीकार कर लेने के कारण कवि के गीतों में अपेक्षित शक्ति और ताज़गी की न्यूनता है।

उपरिचिर्चित गीत-कवियों के अतिरिक्त कुछ ऐसे नयेगीतकार भी हैं जिनका व्यक्तित्व अभी उभर रहा है। उनके प्रकाशित थोड़े से ही गीतों से उनकी सम्भावनाएँ स्पष्ट होने लगी हैं। महेन्द्र शंकर के ग्राम-प्रकृति के वातावरण में रचित रूमानी सम्वेदना के कुछ गीत बहुत ही ताज़े और गहरे हैं। इनमें प्रेम है, सौंदर्य है और सर्वत्र एक खुलापन है, सम्वेदना की सूक्ष्मता है, सहजता है और लोक-जीवन से लिए गए टटके बिम्ब हैं, जिनके चलते गीतों की सांकेतिकता द्रष्टव्य हो उठी है। 'यह हवा' तथा 'एक रंग : पाँच फूल' जैसे गीत उदाहरण हो सकते हैं।

अत्यंत नए गीतकारों में ओम प्रभाकर और नरेश सक्सेना के नाम बहुत साफ़ तौर से उभर रहे हैं। वैसे पत्र-पत्रिकाओं में और भी कई नए कवियों की सुन्दर गीत रचाएँ द्रष्टव्य होती हैं किन्तु स्तर की असमानता के कारण निश्चिततः कुछ कहा नहीं जा सकता। किन्तु ओम प्रभाकर और नरेश सक्सेना के सारे प्रकाशित गीतों में एक व्यक्तित्व लक्षित होता है। ओम प्रभाकर के गीतों में घरेलू जीवन का दर्द बड़ी सहजता से उभरता दिखाई देता है। प्रेम का दर्द, प्रतीक्षा का दर्द, घर के अभाव का दर्द, घर से बिछुड़ने का दर्द। और इस दर्द की अभिव्यक्ति के लिए घरेलू बिम्ब और प्रतीक बड़ी सफाई से नियोजित किए गए हैं। गीत आकार में छोटे हैं-साफ-

सुथरे पर अनीदार। नरेश सक्सेना के गीतों में भी दर्द है। आज के व्यक्ति का निजी दर्द, भीड़ में अकेलेपन का दर्द, खोखली हँसी में आँसू का दर्द...। और दर्द की अभिव्यक्ति यहाँ भी बड़े ही बिम्बात्मक रूप में पर सहज लगती-सी हुई है। इन दोनों कवियों का दर्द एक सीमित क्षेत्र के भीतर अनुभूति की सच्चाई पाकर उभरता दिखाई पड़ता है अतः इनमें कोई दर्शन नहीं है बनावट नहीं है; दर्द है, बस, सच्चा दर्द।

इस प्रकार प्रायः सम्पूर्ण गीत-सृजन के आकलनोपरांत हम पाते हैं कि सम्प्रति उसका मूल सम्बन्ध दो वस्तुओं से ही अधिक है—प्रकृति और प्रेम-सौंदर्य से। किन्तु यहाँ प्रेम-सौंदर्य का पिष्टपेषित रूप नहीं है। हर कवि ने उसे अपने-अपने ढंग से नए बिम्ब-प्रतीकों और नए शब्द, शैली द्वारा अभिव्यक्त किया है। नये गीतकारों की रूमानी वृत्ति ने लोक-जीवन से सम्पृक्त होकर उसकी सही सौंदर्य-भावना, प्रेम भाव, राग बोध, प्रकृति-छवि तथा दर्द और उल्लास को अपनी अनुभूति का अंग बनाकर व्यक्त किया है इसीलिए वह पर्याप्त् सशक्त, ताजा और प्राणपूर्ण कविताओं को जन्म दे सकी है। यह नये हिन्दी गीत-सृजन की एक बड़ी उपलब्धि है कि उसने काव्य के दो शाश्वत पारंपरिक तत्व प्रकृति और प्रेम को नव्यता प्रदान की है—समसामयिक जीवन की नव्यता।

नये गीत को नवीन सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाकर चलने वाले गीतकार भी हैं जिनमें बाल स्वरूप राही और वीरेन्द्र मिश्र के नाम उल्लेख्य हैं। लेकिन इन गीतों के साथ परेशानी यह है कि ये गीत के ढांचे में गीतेतर कविता की चेतना और वस्तु का समावेश करना चाहते हैं। इसलिए ये गीत गीत न रह कर गीताभास हो जाते हैं। वीरेन्द्र मिश्र के लम्बे लम्बे गीत तो सचमुच ही अनेक तथ्यों के पुंज मालूम पड़ते हैं। राही के गीत इस सीमा के भीतर से भी गीतात्मक छवि उभार सकने में कभी कभी समर्थ हो जाते हैं और आज के जीवन के विसंगतिमय यथार्थ और व्यक्ति के आहत अनुभवों के वैसे ही चित्र उभारते हैं जैसे नयी कविता में उभरे हैं। दिक्कत यह है कि ये कवि गीत को अनिवार्य रूप से स्वीकारते हुए भी उसे नयी कविता के समानान्तर स्थापित करना चाहते हैं इस द्विधा में गीत गीत और नयी कविता की बेमेल खिचड़ी बन जाता है।

नये गीत—फिर भी मैं निस्संकोच कहना चाहूँगा कि-नई कविता के पूरक हैं अर्थात् नये गीत आज के सम्पूर्ण कथ्य को अभिव्यक्ति नहीं दे

सकते। और ऐसा उन्हें करना भी नहीं चाहिए क्योंकि ऐसा करने से तो वे पुराने कथ्यात्मक गीतों का पुनर्प्रकाशन करने लगेंगे। गीत की अपनी विधा है और उसमें नित नवीन प्रयोग होते रहने चाहिए और आज के गीतों में नई कविता के समान ही समसामयिक जीवन-सत्यों की अभिव्यक्ति हो भी रही है। किन्तु नई कविता जहाँ प्रदीर्घ और जटिल हो सकती है, उसमें पर्याप्त दूर तक खण्डित बिम्बों के माध्यम से जीवन के खण्डित सत्य जहाँ समेटे जा सकते हैं वहाँ नया गीत आकार-लघुता और प्रभावान्विति की अपनी विशिष्टताओं के कारण नई कविता के इन क्षेत्रों को वर्जित ही रख सकता है। अतः नये गीत नई कविता के सहवर्ती हैं, विरोधी नहीं।

६

आज की कविता

९. आज की कविता

नामों का शोर…अकविता, अतिकविता, अस्वीकृत कविता, विद्रोही पीढ़ी, कबीर पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी….यहां से वहां तक नये साइन बोर्ड…। तब सहज ही दो प्रश्न उठ खड़े होते हैं—(१) क्या सन् साठ के बाद की कविता को दिये गये भिन्न भिन्न नामों के बावजूद मूल स्वर में कोई भिन्नता नहीं है ? यानी हर नाम एक दूसरे से अलग तो है किन्तु भिन्न भिन्न नामों से व्यक्त होने वाली कविताओं की चेतनाओं में कोई विभिन्नता नहीं ? (२) क्या इन विभिन्न नामों के आन्दोलनों की कविता और यथार्थ विषयक दृष्टि तथा मान्यताएं अपनी अपनी हैं ? यदि पहली बात सही है तो यह पूछना अनुचित नहीं माना जाना चाहिए कि यदि सन् साठ के बाद बदली हुई परिस्थितियों और युग यथार्थ के परिणामस्वरूप कविता में अनिवार्य नये मोड़ आये हैं, नये स्वर उगे हैं तो उन पर आग्रह न करके अपने अपने खेमे के नामों का इतना शोर क्यों मचाया जा रहा है ? यदि दूसरी बात सही है तो यह तर्क कि सन् साठ के बाद ऐसी परिस्थितियां उभरी हैं जिन्होंने साहित्य को नया मोड़ दिया है असंगत दीखने लगता है। इतने ही वर्षों में क्या इतने विविध परिवर्तन हुए कि तरह तरह के लोगों ने उनसे तरह तरह के प्रभाव ग्रहण किये ? तब तो यही कहना पड़ेगा कि बदली हुई परिस्थितियों को या तो इस या उस साइनबोर्ड के खेमे ने समझा नहीं या अपने अपने ढंग से समझा। यह परिवर्तन युग-प्रसूत नहीं, कुछ लोगों के सायास आयोजन का परिणाम है और इस तरह छोटे-छोटे सेक्शनों में बँट कर चर्चित होने और नेतृत्व करने की होड़ मची है न कि अच्छी कविता लिखने की। यदि विद्रोही पीढ़ी, क्रुद्ध पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, कबीर पीढ़ी आदि के कवि विद्रोह के समर्थक हैं तो अकविता वाले विद्रोह को रूमानी प्रवृत्ति मान कर उसे त्याज्य समझते हैं। फिर सन् साठ के बाद विद्रोह को सत्य माना जाये या अविद्रोह को।

साइनबोर्डों से अलग हट कर विचार किया जाये तो इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि सन् साठ के आसपास नयी कविता की धारा अपने से कुछ अलग होती हुई दीखती है। यह महत्व की बात नहीं है कि किस भगीरथ ने नयी धारा की गंगा का अवतरण कराया है, महत्व की बात है चली आती

हुई धारा में नये जल का दीखना या जल का नयी भूमियों के स्पर्श से नया रंग और मोड़ धारण करना। साठ के बाद जो नया मोड़ लक्षित होता है वह एकाएक दीखने वाली कोई नवीन वस्तु नहीं वरन् नयी कविता से ही फूटा हुआ है। अकविता वालों ने भले ही कविता से अलगाने के लिये अकविता नाम दे दिया किन्तु किसी मौलिक आधार पर अकविता को कविता से अलग नहीं कर सके। उनके पास कोई स्पष्ट दृष्टि नहीं है इसलिये अकविता के नाम पर या तो कविता छापते हैं या घटिया कविता। अकविता के नाम पर उन लोगों की भी रचनाएँ छापते हैं जिन्हें यह कतई अहसास नहीं है कि वे अकविता लिख रहे हैं।

मेरी स्पष्ट धारणा है कि सन् साठ के बाद कविता में जो स्वर उगे हैं वे नयी कविता में बीज रूप में वर्तमान रहे हैं और गौण भाव से प्रस्फुटित होते रहे हैं। ये स्वर नयी कविता के मूलाधार नहीं रहे हैं किन्तु रहे हैं। नयी कविता से सर्वथा विच्छिन्न या विरोधी स्वर के रूप में इनकी व्याख्या नहीं हो सकती जैसा कि अकविता वाले करते हैं।

साठ के बाद की कविता में असंतोष, अस्वीकृति और विद्रोह का स्वर बहुत साफ तौर पर उभरा। नयी कविता में भी असंतोष और अस्वीकृति का स्वर विद्यमान है। मुक्ति-बोध में तो हैं ही अन्य कवियों में भी। यह स्वर कहीं तो व्यंग्य में है कहीं खुले रूप में।

तुम—
चलते हो बिना चरण
सुनते हो बिना श्रवण
देखते हो बिना नयन
ढूँढ़ते हैं तुमको
सब सन्त और साधक जन
पाकर ले आते तुम्हें
मेले में, ठेले में
हाट में नुमाइश में
तम्बू गाड़ करते हैं तुम्हारा प्रदर्शन
भोंपू पर कहते हैं
एक है अजूबा—
जिसके पाँव नहीं, कान नहीं, आँख नहीं

चलता है, सुनता है, देखता है····
हम सब तमाशबीन
टिकट में गंवाते हैं
आत्मा का सारा धन,
यह जो तुम्हारा है सहज सुभाव प्रभु
उनका है रोजगार धन्धा
लुट जाते हैं हम प्रभु
तुमने बनाया जिन्हें
गांठ का अधूरा
और आंखों का अंधा

—धर्मवीर भारती

किन्तु साठ के बाद इस स्वर ने और तीखे व्यंग्य तथा विद्रोह का रूप धारण कर लिया है, जीवन की टूटती मूर्तियों के बहुत करीब जा कर उनकी टूटने की तल्खी, व्यथा और उसमें से फूटती अस्वीकृति की उग्रता को पहचाना है। नयी कविता की सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उसने समग्र जीवन की प्रामाणिक अनुभूतियों को उनके जीवंत परिवेश में व्यक्त किया, विषय या अनुभूति के आभिजात्य और भिन्न भिन्न दृष्टियों या वादों से बने हुए उनके घेरों को तोड़ कर व्यक्ति द्वारा भोगे जाते हुए जीवन के हर छोटे बड़े सत्य को प्रतीकों और बिम्बों के माध्यम से उभारने में ही कविता की सार्थकता समझी। यह बात ध्यान देने की है कि इस भुक्त जीवंत सत्य में कवि का अनुभव, उसकी दृष्टि, उसका नवीन सौन्दर्य-बोध तथा विगलित जड़ सत्यों के प्रति उसके अस्वीकार का भाव सभी सन्निहित हैं, कहीं कहीं विद्रोह का स्वर भी। किन्तु कुल मिला कर कहना पड़ेगा कि नयी कविता संक्रातिजन्य संत्रास, यातना, टूटन, द्विधा की अनुभूति की कविता है जिसमें रह रह कर सुन्दर अनागत के आने की आशा, स्वयं को अंधेरे में प्रकाश की तरह जला कर, फूल की तरह खिला कर अपने को सार्थक तथा अपने द्वारा युग को मूल्यवान बनाने की आस्था कौंध की तरह लिपट लिपट जाती है—

या कुछ नहीं तो
बहुत संभव है, किसी सागर किनारे
दूर पर जाते हुए जलयान की शुभ कामना में
एक बुझती सांझ का रूमाल बन कर हिल उठूं
एक नन्हा बीज मैं अज्ञात नवयुग का

आह कितना कुछ सभी कुछ न जाने क्या क्या
समूचा विश्व होना चाहता हूँ
भोर से पहले तुम्हारे द्वार—
तुम मुझे देखो या न देखो
कल उगूंगा । —केदार नाथ सिंह

कहा जा सकता है कि नयी कविता जिस युग की उपज है वह युग पीड़ा-बोध अधिक दे सकता था विद्रोह कम । स्वराज्य प्राप्ति की आरंभिक वेला में जो यातना या दर्द उग आया था वह अपने साथ भविष्य के प्रति विश्वास और आशा का स्वर भी अवश्य ही लिपटाये था । एक द्विधा थी—पीड़ा और आशा की, टूटने की वास्तविकता और बनने के सपने की, जिसमें पीड़ा या टूटना अधिक था बनने की आशा और सपना कम । मोहभंग या डिसइल्यूजनमेंट पूरे रूप में नहीं हुआ था इसलिए नयी कविता में यातनाबोध है, अस्वीकृति का स्वर भी है किन्तु विद्रोह का उभार नहीं है । धीरे धीरे 'इल्यूजन' एक दम टूट गये, मोह भंग हो गया । व्यक्ति का सामाजिक परिवेश और भी कुरूप होता गया, भविष्य के सपने टूटते गये । सरकारी असफलता और उसकी जकड़ बढ़ती गई और तनाव भरा, टूटता हुआ, यातना और संत्रास से आन्दोलित जीवन निरंध्र अंधकार में डूबा हुआ उभरता गया । साहित्य के सामने दो ही रास्ते थे या तो वह नयी कविता के प्रधान स्वर में स्वर मिला कर पीड़ा की भुक्त अनुभूति को और गहनता से व्यक्त करता अथवा ये सारी परिस्थितियां उसके संवेदशील मन को झकझोरतीं और यातना के बीच से उभार कर उसे विद्रोही बनातीं, सब कुछ अस्वीकृत करने को प्रेरित करतीं ।

दोनों प्रतिक्रियाएं साहित्य में दिखाई पड़ीं । अकविता वाले संवेग और संचेतना को, नव विकसित सत्य को सहज तरीके से व्यक्त करने की घोषणा करते हैं । ये अव्यवस्था, विसंगति, मूल्यहीनता, विरोधाभास और आदर्शों के अकाल से आन्दोलित नहीं होते । आन्दोलित होना इनकी दृष्टि में रूमानी प्रवृत्ति है और ये रूमान को निर्ममता से काट काट कर फेंक देना चाहते हैं और संवेदना शून्य होकर (संवेदना भी इनके लिए कैशोर भावुकता है) आज के अनावृत कुरूप और विकृत सम्बन्धों की भूमिका पर खड़े होकर सब कुछ देखना चाहते हैं-गोया वे कवि नहीं तटस्थ दर्शक हैं और चूं कि वे यौन-विकृति और जिस्मानी-सड़ांध को ही विशेष रूप से देखते हैं इसलिए इस देखने में

उनकी रुचि तो शामिल है ही, नहीं तो समाज के अनेक स्तरों पर उभरती विकृतियों, विसंगतियों और जटिल सम्बन्धों के अपार विस्तार में से इन्हीं विकृतियों को क्यों चुनते ? फिर इसे असंपृक्त और तटस्थ देखना कैसे कहा जाए ? यौन विकृतियों को देखने से लोक परलोक दोनों सुधरता है—विकृतियों को उघारने का क्रांतिकारी सेहरा भी सिर पर बंधता है और अपनी सुख-पिपासा भी तृप्त होती है। इस प्रकार ऐसा लगता है कि असंपृक्ति, तटस्थता, रूमानहीनता का मुखौटा पहनने वाला कवि या अकवि स्वयं कहीं संपृक्त है विकृतियों से।

नयी कविता पहले की कविताओं पर रूमानी होने का आरोप लगाती थी। आज का कवि नयी कविता को रूमानी कविता करार दे रहा है और और कल का कवि आज की कविता को रूमानी सिद्ध करके अपनी यात्रा आरम्भ करेगा। इस प्रकार रूमानियत के आधार पर अपने से पूर्व की कविता का विरोध करते हुए अपने को स्थापित करने का प्रयास और अनजाने ही उसका शिकार हो जाने की नियति एक परंपरा बन गई है। इसका कारण शायद यही है कि रूमान हमारे लाख विरोध के बावजूद हमारे भीतर घुला मिला है। जब तक वह हमारे संस्कारों से सहज भाव से सर्वथा नहीं कट जाता तब तक केवल बौद्धिक या बाहरी विरोध करने से बात नहीं बनती। केवल कहने से रूमानियत नहीं जाती। 'मैंने अतीत को काट कर फेंक दिया है बेदर्दी के साथ। कुछ नहीं दिखाई देता है....'

—जगीश चतुर्वेदी

एक तटस्थ रूमानमुक्त दृष्टि रूमान को या अतीत को बेदर्दी से काट कर फेंक देने की घोषणा नहीं करती, वह तो सहजभाव से उससे कटी होती है। यह घोषणा ही साबित करती है कि अतीत कवि से कटा नहीं है, कट गया होता तो कवि स्मृतियों की ओर जाता ही क्यों ? वह क्यों घोषणा करता कि उसने अतीत को बेदर्दी से काट दिया है। यदि कोई चीज़ हमारे खून में भीनी हुई है तो वह बाहर बाहर काटने से या काटने की घोषणा करने से नहीं कटती। रोज दाढ़ी काटने से वह और तेज़ी से निकलती है। प्रश्न होता है कि क्या सचमुच रूमानहीनता कवि के स्वभाव में है ? परीक्षा करने पर मालूम होगा कि रूमान आज के व्यक्ति को भी चारों ओर से जकड़े है। क्या कोई कवि ऐसा है जो जिस्म को मात्र जिस्म मानकर उससे जिस्मानी भूख मिटा ले ? क्या वह आज भी अनेक सम्बन्धों का ध्यान रखता हुआ

जिस्म-जिस्म में भेद नहीं करता ? गोष्ठियां करना, अपनी बात का दलबद्ध प्रचार करना, उसे मनवाने की-चेष्टा करना, अपने को छपवाना आदि रूमानी वृत्तियां नहीं हैं ?

लेकिन मैंने स्वभाव की बात कर शायद इन कवियों से उस बात की मांग कर दी जिसे ये देना नहीं चाहते। ये तो सत्य के अनासक्त द्रष्टा हैं। यही वजह है कि कुछ दिन पहले तक कवि सम्मेलनी गीत लिखने वाले कुछ गीतकार छलांग लगा कर अत्याधुनिक सत्यों की डाल पर जा बैठे। यदि आपको शिकायत हो कि वे कविता नहीं लिखते बल्कि आज के जीवन में सतह पर दिखाई पड़ने वाले विकृत सत्यों के टुकड़े बटोर बटोर कर कबाड़ी का काम करते हैं तो आपकी शिकायत भी इनकी दृष्टि में रूमानी है। आप कविता से क्यों आशा करते हैं कि वह एक अन्तवर्ती चेतना से अनुस्यूत हो या कवि से क्यों आशा करते हैं कि वह सत्य को अपने भीतर पाकर ही कविता लिखे।

दूसरी प्रतिक्रिया विद्रोह की हुई। वास्तव में अकविता, विद्रोही पीढ़ी, भूखी पीढ़ी, अस्वीकृत पीढ़ी आदि के कवि आपस में इतने 'इन्टरचेन्ज्ड' हैं कि किसी के बारे में अलग से कुछ साफ साफ कहना कठिन है। फिर भी सुविधा के लिए कुछ प्रवृत्तियों का विभाजन करके बातचीत की जा सकती है क्योंकि सबने अपने अलग अलग नाम रखे हैं। अकविता के कवि (कौन अकविता का कवि है कौन अकविता से इतर का, अभी यही बात स्पष्ट नहीं हो सकी है क्योंकि स्पष्ट करने वाली कोई कसौटी ही नहीं है) विद्रोह को रूमानी वृत्ति मानते हैं (हालांकि विद्रोह की भंगिमा उनमें भी है। स्वीकृत को अस्वीकृत करना भी एक तरह का विद्रोह ही है इसी तरह अस्वीकृत को को स्वीकृत करना भी) किन्तु आज के काफी कवि अपने को स्पष्ट विद्रोही कहना चाहते हैं। विद्रोह की दो प्रवृत्तियां होती हैं—अस्वीकृति या ध्वंस तथा रचना। जो कुछ अन्तर्विरोध ग्रस्त है, विसंगतिपूर्ण है, भीतर से सड़ा गला और विषाक्त है मगर ऊपर से चमकीला, मंगलमय, संभ्रांत, उसे अस्वीकार करना है, नष्ट करना है और इस अस्वीकृति के आधार पर रचनात्मक शक्तियों की तलाश करनी है। अस्वीकृति भी अपने आप में बहुत बड़ी शक्ति की मांग करती है, जो कुछ स्थापित है जिसके जड़ दायरे में एक बहुत बड़ी जमात विश्वस्त होकर सुख से पागुर कर रही है उसे अस्वीकृत करने के लिए आवाज़ उठाना कम नैतिक शक्ति और साहस का काम नहीं। किन्तु विद्रोह यहीं रुकता

नहीं, वह एक रचनात्मक दिशा से सम्बद्ध होता है उसके लिए विवेकपूर्ण रचनात्मक दृष्टि की आवश्यकता होती है। विद्रोह व्यक्ति-मन की अराजक उच्छृंखल प्रतिक्रिया नहीं है वह समाज-सापेक्ष होता है। व्यक्तिगत उच्छृंखल प्रतिक्रिया निर्लक्ष्य आत्मविभ्रमपूर्ण होती है जबकि विद्रोह सामाजिक रचना के लक्ष्य से अनुशासित।

आज की कविता में विद्रोह नाम से जो कविताएं आ रही हैं (चाहे वे विद्रोही पीढ़ी की हों, बीट से लगने वालों की हों, अभागी पीढ़ी की हों अस्वीकृत पीढ़ी की हों) उनमें से अधिकांश निर्लक्ष्य या यौन-विकृति-लक्षी हैं। साइनबोर्ड अलग अलग हैं किन्तु माल में कोई फर्क नहीं। निर्लक्ष्य होने से ये कविताएं सुबिधा का विद्रोह करती हैं यानी जहां विद्रोह करने में खतरा अनुभव हो वहां नहीं, जहां सुविधा हो वहां बिद्रोह करो। यदि अमेरिका, वियतनाम, रूस या अन्य देशों की असंगतियों के खिलाफ कविता लिख देने या वक्तव्य छपा देने से विद्रोहियों में नाम शुमार हो जाए तो क्या बुरा है— लगता ही क्या है। मगर अपने अति समीपी 'बास' के अत्याचारों (जिससे कि वह अधिक पीड़ित हो सकता है जिसके दबाव में वह क्षण क्षण गुजरता है) के विरुद्ध आवाज़ उठाने में उसके विद्रोह का जबड़ा बन्द हो जाता है। वे सुविधा का विद्रोह करते हैं और नारी के शरीर से अधिक सुविधापूर्ण विद्रोह का क्षेत्र और क्या हो सकता है? इन्हें सबसे बड़ी विसंगति सेक्स में दीखती है या शरीर की वीभत्सता में। विद्रोह का यह प्रयास तो बहुत अपेक्षित और स्तुत्य है कि वह शब्द की झिल्ली फाड़ कर अर्थ का उद्धार करे किन्तु कुछ अर्थ ऐसे हैं जो छिपे रह कर ही अपना सौन्दर्य बनाये रखते हैं और जब विद्रोह उनको खींच कर बाहर लाना चाहता है तब लगता है कि वह शब्दों की झिल्ली फाड़ने की बात इन अर्थों को खुल्लमखुल्ला कहने का लाइसेंस लेने के लिए कर रहा था—

गुप्तांग की जगह हमें सीधे धक्का मार लहजे में कहना है
शब्द की झिल्ली फाड़ कर अर्थ शिशु को किहकना ही चाहिए

— केशनी प्रसाद चौरसिया

लेकिन यह क्रिया तो जीवन के व्यवहार से ही प्रारम्भ होनी चाहिए। इन अनेक वस्त्रों और प्रसाधनों ने शरीर के वास्तविक अर्थ को छिपा रखा है उन्हें फाड़ फूड़ कर नंगा हो जाना चाहिए।

विद्रोह के नाम पर आवरणों को हटा कर यौन-अर्थ को नंगा कर

देने की प्रवृत्ति इस कदर हावी होती जा रही हैं कि ग्रौर विसंगतियाँ उपेक्षित होती जा रही हैं। विद्रोह शरीर की धज्जियां उड़ा कर उसके ग्रंग-ग्रंग को ग्राकाश में लटका देता है या उसके जुगुप्सा सूचक व्यापारों, मवाद, पीब का चित्र उभारता है गन्दी गलियों की ग्रन्धी सीढ़ियों पर तमाम जाने पहचाने चेहरों को छोड़ देता है, बीमारी की ग्रवस्था में नर्सों की छातियाँ देखता है, समलैंगिक मैथुन को बढ़ावा देता है। कवि फ्रेंच लैंदरों से भरी सीढ़ियां, क्षत-विक्षत योनि पर शिश्न की छायाएँ देखता है, उसे पूरी की पूरी सृष्टि बीमार योनि की तरह लगती है जिस पर पेड़-पौधे ग्रौर मनुष्य फुंसियों की तरह उगे दिखाई पड़ते हैं। मुद्राराक्षस, राजकमल चौधरी, जगदीश चतुर्वेदी, श्रीराम शुक्ल ग्रौर बहुत से गद्य-पद्यकार इस सड़ांध के शिकार होकर खामखा के लिये इसे विद्रोह मान बैठे हैं। यह नहीं कि इनमें ग्रौर बातें नहीं हैं, कुछ ग्रच्छी कविताग्रों में इन्होंने ग्रन्य प्रकार की सामाजिक ग्रौर मानवीय विसंगतियों को तीखी दृष्टि से देखा है किन्तु इनका मुख्य स्वर यौन विकृति ही मालूम पड़ता है जिसमें चोट करने की प्रवृत्ति कम ग्रौर डूबने की ग्रधिक मालूम पड़ती है। इसे नयी कविता के सौंदर्य-बोध ग्रौर यौन चित्रों से मिलाकर देखा जाये तो मालूम होगा कि नयी कविता भी ग्रपने परिवेश में विद्रोही है, उसकी दृष्टि स्वीकृत ग्रसुन्दर को ग्रस्वीकार तो करती थी किन्तु विद्रोह के नाम पर यौन सम्बन्धों के विकृत चित्रों को, सड़े-गले व्यापारों को नहीं उभारती थी वरन् उन्हें एक ग्रनिवार्य स्थिति मानकर या उन्हें संकेतों से उभार कर उनके ग्रमानवीय पक्षों पर फोकस डालती थी, शरीर के नहीं, मन के विकारों पर जमती थी ग्रौर विशेष तीव्रता से एक पहलू को उभारती थी। साथ ही साथ उसका विद्रोह जीवन के विस्तृत क्षेत्र के ग्रनेक ग्रसुन्दर बोधों के विरुद्ध था। ग्राज के यौन विकृति सम्बन्धी विद्रोहों में यही नहीं मालूम पड़ता कि कवि एक चित्र दे रहा है या किसी बिन्दु पर बल देकर उस विकृति के विरुद्ध कोई नफरत या वितृष्णा भी जाहिर कर रहा है। नयी कविता का सौन्दर्य-बोध पुरातन मूल्यों ग्रौर सौंदर्य की ग्रस्वीकृति तथा व्यंग्य से युक्त होकर भी जुगुप्सा नहीं पैदा करता। वह जीवन ग्रौर प्रकृति के ग्रनेक भोगे हुये क्षणों ग्रौर कणों को बड़ी ताज़गी से उभारता है। जान-बूझकर या प्रतिक्रिया में मानव ग्रौर प्रकृति के रूपों को इस कदर नहीं बिगाड़ता कि मुर्दाघर की या गन्दे नाले की या सीलन भरे मकान की बदबू ग्राने लगे। उसकी भी ग्रावश्यकता होती है परन्तु हर सन्दर्भ में, हर जगह पर, हर क्षण नारा बना कर नहीं।

सन् साठ के बाद की कविता के सम्बन्ध में मैंने ऊपर जो कुछ कहा वह विशेष विशेष आन्दलनों से सम्बद्ध कविता की विद्रोही या अस्वीकृत या यथार्थवादी कही जाने वाली दृष्टि की सीमाओं को देखने-परखने के संदर्भ में कहा। किन्तु यदि इन आन्दोलनों और उनके साथ लिपटी चली आती हुई कचड़ा कविताओं के ऊहापोह से हट कर बात की जाये तो स्पष्ट दिखाई पड़ेगा कि इधर पाँच-छः वर्षों से नयी कविता ने नयी परिस्थितियों के सन्दर्भ में नया मोड़ लिया है। ये परिस्थितियाँ मूलतः मोह-भंग करने वाली परिस्थितियाँ हैं। साठ के बाद चीन और पाकिस्तान के अतिक्रमण दो अत्यन्त आन्दोलनकारी घटनाएँ हैं। इन घटनाओं ने दुहरे रूप में मोह-भंग किया। इन्होंने हमारी सारी मानवीय, नैतिक, शान्तिवादी धारणाओं को हिला कर रख दिया और हमारी राष्ट्रीय शक्ति को बहुत आहत किया तथा हमारे उच्च नैतिक नारों, शान्तिवादी प्रयासों को अपर्याप्त या खोखला सिद्ध कर उसे हमारे ठोस राष्ट्रीय हितों के प्रतिकूल प्रमाणित किया। हमारे सामने जैसे उड़ते हुए हजार-हजार कबूतर एक साथ झुलस कर जमीन पर गिर पड़े और हमारे रंगीन आदर्शों ने कुहरे के समान हमारे ही आसपास गिर कर हमें ही ढक लिया। इन अतिक्रमणों के समय जन-जीवन में एक अपूर्व जागरण दिखाई पड़ा। राजनीति की छाया में टूटता हुआ सामाजिक जीवन आसन्न संकट के कारण जैसे जुड़ कर एक हो गया और लगा कि सामाजिक जीवन-निर्माण का जो सपना हमने देखा था, जिस अनागत की पदचाप हमने सुनी थी वह आ गया है। लेकिन यह एकता स्थायी न रह सकी। यह एकता जैसे भयाक्रांत भावुकतामयी एकता थी जो अतिक्रमणों के ठंडा होते ही ठंडी हो गई। मामूलियत के प्रति गौरव का जो ज्वार उमड़ा था वह लौट गया। लोग फिर अपने-अपने स्वार्थ से संलग्न हो गये और सरकार और समाज के बीच जो मामूलियत का पठार उभरा था वह पुनः धीरे-धीरे नीचे धसक गया और अफसरों, नेताओं, अंग्रेज़ी परस्तों, पूँजीवादियों का अभिजात गौरव मामूलियत के खून से सिंची धरती को बोने-काटने लगा। इस तरह दुहरा मोह-भंग हुआ। संवेदनशील शिल्पी को अपने चारों ओर ऐसे समाज का दर्शन हुआ जिसमें सब कुछ स्वन्यस्त है, सारी प्रभुता और शक्ति उन्मत्त होकर सामान्य प्रजा को चूसने लगी है, गलत तरीकों से अहमक, उजड्ड, भँड़वे, पैसे वाले, नेता और उनके मूर्ख बेटे देश के जरखेज टुकड़ों पर कुंडली मार कर बैठ रहे हैं और ईमानदार योग्य, गरीब सामान्य लोग अपने ही देश में देश निकाला का

अभिशाप लिये घूम रहे हैं। इस परिस्थिति ने इल्यूजन को एकदम तोड़ दिया और नयी कविता के भीतर निहित विद्रोह तत्व का प्रकाशहीन अन्धकार-बोध उभर कर अधिक उग्र और प्रधान हो गया। अन्धकार बोध की स्थिति भी अन्धकार को स्वीकारने की स्थिति नहीं होती। कवि अन्धकार को उभार कर अन्ततोगत्वा उसके प्रति अस्वीकृति का ही भाव व्यंजित करना चाहता है। हाँ यौन विकृतियों में अवश्य विकल्प की अवस्था हो सकती है यानी यौन विकृतियों को रस ले-लेकर अर्थात् उनसे अपने को संपृक्त करके उभारने वाले भी होते हैं और उनमें निहित अमानवीय असुन्दर वृत्तियों को ध्वनित करने वाले भी। अन्धकार बोध और फिर अंधकार के प्रति विद्रोह, उसे तहस नहस करना यानी उसकी सारी अव्यवस्था को खुले आम अस्वीकार करना तथा रचनात्मक दृष्टिकोण से किसी दिशा की ओर संकेत करना दूसरी प्रतिक्रिया होती है। आज की कविता इन दोनों स्थितियों के सत्यों को समेटे बह रही है। और इन दोनों स्थितियों की चेतना अपने ढंग से नयी कविता में भी रही है। 'वातायन' में आज की कविता को नयी कविता से अलग करके देखने वाले एक सज्जन का पत्र छपा था जिसमें मेरे एक पत्र के संदर्भ में कहा गया था कि रामदरश मिश्र ने गीत रचना छोड़कर बाध्य होकर 'समय देवता' जैसी कविता लिखी है। वास्तव में साठ के वाद मुझमें 'समय देवता' जैसी कविता (जिसमें समय के न्याय प्रिय इमेज को तोड़ कर युग की भयानक विद्रूपता और विसंगति के बीच उसके अन्याय प्रिय स्वरूप को उभारा गया है) लिखने का इलहाम नहीं पैदा हुआ। इस तरह की चेतना मुझमें पहले से थी जो मेरी अनेक गीतेतर कविताओं में व्यक्त हुई थी और जो आज के युग की विषम परिस्थितियों के अत्यधिक दवाब तथा समय के साथ विकसित मेरी काव्य समझ और दृष्टि के कारण 'समय देवता' जैसी अधिक यथार्थवादी रचना के रूप में फूटी।

एक ओर हमारी नयी परिस्थितियां इस तरह विषम और झकझोरने वाली हो रही थीं दूसरी ओर नयी कविता की एक धारा अपने प्रमुख कवि अज्ञेय की कविताओं में जीवन की उष्मा से कट कर सर्द सौन्दर्य-चित्रों, निस्पन्द भाव-बिम्बों प्रकृति-प्रतीकों के मारफत उभरते दार्शनिक निष्कर्षों की चरम परिणति प्राप्त कर रही थी। अज्ञेय के 'सुनहले शैवाल और 'आंगन पार द्वार, को नयी कविता की इस धारा के पर्यवसान के रूप में देखा जा सकता है जिनकी कविताओ में न तो छायावादी कविता का संवेदनात्मक स्पन्दन ही है

ग्रौर न तो यथार्थवादी कविता की विषम जीवन-जन्य तल्खी ग्रौर जटिलता ही। दोनों की सीमाग्रों का मिश्रण ग्रवश्य है ग्रर्थात् भावबोध तो छायावादी है किन्तु छायावादी होने के ग्रारोप से बचने के लिए उसे ग्रदभुत ठंडेपन ग्रौर शिल्प-चातुर्थ से व्यक्त किया गया है दूसरी ग्रोर यथार्थवाद की बौद्धिकता का ग्राभास देने के लिए रूपकों के माध्यम से कुछ दार्शनिक से लगने वाले निष्कर्ष निरूपित किये गये हैं। भाषा धुलती धुलती ऐसी धुल गई है कि उसमें ग्राज के जीवन की 'रफनेस' व्यक्त करने की क्षमता ही शेष नहीं रह गई है। छायावादी भाषा ग्रौर ग्रज्ञेय की ग्राज की भाषा की दूरी बहुत कम रह गई है, शायद उनका नव विकसित छायावादी बोध ही इसका कारण हो। ग्रज्ञेय की भाषा ग्रौर बोध में पहले जो जीवन के ऊबड़ खाबड़ शिखर उठते दिखाई पड़ रहे थे वे सब ठोंक पीट कर समतल कर दिये गये हैं। उनकी सबसे सशक्त मानी जाने वाली 'ग्रसाध्य वीणा' चिन्तन या निष्कर्ष के सूत्रों से बुना हुग्रा एक ग्रायास जन्य रूपक प्रतीत होता है जीवन-काव्य कम। सुनहले शैवाल की कुछ पंक्तियां भाषा ग्रौर बोध के इस संदर्भ में दृष्टव्य हैं :—

प्रिय, ग्राग्रो इसकी सित फेनिल स्मित के नीचे
तप्त किन्तु कम्पन श्लथ हाथ मिला कर
शोणित के प्रवाह में जीवन का शैथिल्य भुलाकर
किसी ग्रनिर्वच, सुख से ग्रांखें मीचे
हम खो जावें, वैयक्तिक पार्थक्य मिटा कर
ग्रथित ग्रंगुलियां, कर भी मिले परस्पर-
प्रिय, हम बैठे रहें इस तट पर
और ग्रजस्र सदा यह निर्झर
गाता जावे, गाता जावे, चिर एक स्वर।

शब्द-प्रयोग तथा चित्र-रचना में ग्रदभुत ग्रनुशासन ग्रौर सूक्ष्म इन्द्रियबोध की मार्मिक पकड़ के बावजूद यह कविता ग्रपने बोध, दृष्टि ग्रौर भाषा के स्तर पर रूमानी कविता है।

इसलिए नयी कविता की इस धारा को चुकना ही था ग्रौर जीवन की प्रत्यक्ष टकराहट, विषमता की तल्खी से फूटने वाली मुक्तिबोध की ग्रसंयत वेगवान कविता की धारा को नये नये ग्रासंगों में ग्रागे बढ़ना ही था। ग्राज की कविता (ग्रान्दोलन नहीं) नयी कविता की इसी जीवनोन्मुख धारा का ग्रगला विकास है जिसमें सायास ग्रान्दोलन की योजनाबद्ध लकीरें नहीं, बल्कि

आज के जीवन की अनुभव-जन्य विषम संवेदनाएं और बोध हैं ये अनुभव और बोध आन्दोलन से नहीं सत्य से प्रेरित होकर आज की विषम स्थितियों की प्रतीति, अस्वीकृति और विद्रोह सबको आवश्यकतानुसार समेटते हैं। कोई फारमूला बनाकर मात्रा की नाप तौल नहीं हो सकती और न हर समय कविता लिखने के पहले सजग होकर रूमानी और यथार्थवादी तत्वों को खतियाया जा सकता है। अपने काल के जीवन की संवेदना और बोध के भीतर से जीना और पहचानना तथा आधुनिक जीवन-दृष्टि रखना ही अलम् है। साठ के बाद की धारा में वे कवि भी हैं जो 'नयी कविता के विशिष्ट कवि रहे हैं और जिनमें जीवनधारा की उर्जस्वलता ही प्रधान रही है या जो नयी कविता की बनती हुई सीमाओं को पहचान कर उन्हें तोड़ने के लिए पुनः आकुल हैं, और वे कवि भी हैं जो साठ के बाद की ही उपज हैं। इन कवियों ने एक ओर जीवन की विकसित चेतना और जटिलता का अनुभव किया, दूसरी ओर यह देखा कि नयी कविता के भी फारमूले बनने लगे हैं, उसके प्रतीक और दर्द रूढ़ बनते जा रहे हैं, प्रतीकों की अंधी गुफा में बंद होकर कविता सर्वथा अन्तर्मुखी और निस्पन्द होती जा रही है, जीवन प्रवाह के बीच बहते सत्यों को मुखर करने के स्थान पर वह एक रहस्यमय मौन धारण कर रही है। नयी कविता के नये और पुराने कवि दार्शनिक अन्दाज में खंडित सत्य और पीड़ित प्यार का मरा हुआ सांप गले में लटकाये प्रतीकों और बिम्बों (जो कभी अवरुद्ध कपाट खोलने में सहायक हुए थे) के बन्द घर में घूमने लगे हैं। इस ठहराव को तोड़ना था। कविता को पुनः जीवन के करीब लाना था या नयी कविता की जीवनधारा को पहचान कर उसके साथ आगे चलना था। उसे धीरे धीरे नयी कविता की व्यक्तिवादी धारा की सर्द पड़ती भाषा, प्रतीकों और बिम्बों को तोड़ कर ऐसी भाषा, प्रतीक और बिम्ब लाने थे जो जीवन के वास्तविक प्रवाह से लिए जाने के कारण खुले हुए, जीवंत और उष्म हों। उसे मुक्तिबोध की जीवन चेतना को विकसित करना था।

मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक पत्थर में
चमकता हीरा है
हर एक छाती में आतमा अधीरा है
प्रत्येक सुस्मित में विमल सदानीरा है
मुझे भ्रम होता है कि प्रत्येक वाणी में

महाकाव्य-पीड़ा है
पल भर में सबसे गुजरना चाहता हूं
इस तरह खुद ही को दिये फिरता हूं
अजीब है जिन्दगी
—मुक्तिबोध

जीवन का यह उलझाव और फैलाव बाहर ही नहीं भीतर भी है, शहर में ही नहीं घर में भी है। इन अनेक जीवन सत्यों को देखने वाले कवि के सामने विषय की खोज की समस्या नहीं है समस्या है उन्हें छांटने की। इसलिए जीवन धर्मा कवि की सीमाएं बनने या ठहरने की आशंका ही नहीं होती।

घर पर भी पग-पग चौराहे मिलते हैं
बाँहे फैलाये रोज मिलती हैं सौ राहें,
शाखा-प्रशाखाएं निकलती रहती हैं,
नव नवीन रूप-दृश्य वाले सौ सौ विषय
रोज मिलते हैं...
और, मैं आज सोच रहा कि
जीवन में आज के
लेखक की कठिनाई यह नहीं कि
कमी है विषयों की
वरन यह कि आधिक्य उनका ही
उसको सताता है,
और वह ठीक चुनाव नहीं कर पाता है।। —मुक्तिबोध

आज का जीवन बाहर भीतर न केवल टूट गया है बल्कि उसमें भयंकर विपर्यय आ गया है। यह विपर्यय आज के जीवन की बहुत बड़ी विडंबना है जिसके भीतर से आहत होकर संवेदनशील व्यक्ति गुजरता है—

बहार
बासी अखबार
आम्र नंजरी
सिर्फ आंख की किरकिरी
कोयल
एक धूएं भरी बिगड़ी सी सीटी
भावनाएं बिला टिकट सफर करती सिरफिरी
दुनिया एक टी०टी०

घड़ीसाज़ अन्धा
और उसका भी डूबता सा धंधा
पता उसका भूल गया
तना हुआ सौर मंडल
ढीला बन बीच में ही भूल गया —प्रभाकर माचवे

ऊपर कहा जा चुका है कि मामूलियत की ओर झुकाव आज की मुख्य विशेषता है। चीन और पाकिस्तान के अतिक्रमणों के अवसर पर मामूली सिपाहियों का बलिदान, छोटे छोटे दीखने वाले लोगों का त्याग, किसानों मजदूरों के श्रम की महत्ता का अहसास बहुत स्पष्टता से उभरा। यह भी विस्मयकारी सत्य नहीं है कि सामान्य प्रजा की आकांक्षा और जीवनी शक्ति को जितनी अधिक अभिव्यक्ति मामूली प्रधान मंत्री लाल बहादुर शास्त्री के द्वारा मिली उतनी अधिक बड़े और विशिष्ट प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू से नहीं। यह बात दूसरी है कि राजनीतिक और सामाजिक माहौल में उगी हुई मामूलियत की यह महत्ता स्वार्थी और अहंकारी आभिजात्य के नीचे पुनः ढक दी गई किन्तु वह चेतना मरी नहीं और कला में एक जीवित सत्य बन कर फैल गई तथा कवि को एकान्त से दामन छुड़ा कर जन-जीवन के बीच आने को प्रेरित करने लगी :—

उठो इस एकान्त से
दामन छुड़ाओ
इस महज शान्त से।
चलो उतर कर नीचे की सड़क पर
जहां जीवन सिमट कर बह रहा है
साहस की दिशा में।
जहां अतर्कित प्रेम
कठोरताओं पर तरल है
सबके बीच में
जीवन सरल है
उठो इस एकान्त से
दामन छुड़ाओ इस महज शान्त से
जो न शक्ति देता है न श्रद्धा
सिर्फ उदास बनाता है। —भवानी प्रसाद मिश्र

किन्तु क्या सचमुच हमें सुविधा है कि हम सबमें मिल कर जीएं। क्या लोगों का साथ हमें पूरी आत्मीयता से मिलता है? क्या उसका कोई अर्थ होता है?

अकसर महसूस होता है
कि बगल में बैठे हुए दोस्तों के चेहरे
और अफ्रीका की धुंधली नदियों के छोर
एक हो गये हैं,
और भाषा जो मैं बोलना चाहता हूँ
मेरी जिह्वा पर नहीं
बल्कि दाँतों के बीच की जगहों में सटी हुई है
मैं बहस शुरू तो करूँ
पर चीजें एक ऐसे दौर से होकर गुजर रही हैं
कि सामने की मेज को सीधे 'मेज' कहना
उसे वहाँ से उठा कर
अज्ञात अपराधियों के बीच रख देना है। —केदारनाथ सिंह

होने और न होने के बीच की स्थिति कितनी विडम्बनापूर्ण होती है मगर आज के जीवन की यह स्थिति है। मनुष्य जो है उसे लोग नहीं पहचानते, स्वीकारते और उसके जिस रूप को लोग पहचानते, स्वीकारते हैं उसे वह नहीं पहचान पाता और नहीं पहचानते हुए भी बाहरी दबाव में उसे अपना बना कर ओढ़ लेता है। वह पराये वस्त्र की तरह गँधाता रहता है किन्तु आदमी है जो उसे फेंक नहीं पाता।

और इस प्रकार के द्वन्द्व में उलझे-व्यक्ति की सुबहें और शामें उससे छूट-छूट जाती हैं और दिन उसे चीरता कंपाता हुआ गुजर जाता है—

रोज़ एक सुबह
मेरे हाथों से छूट जाती है
रोज एक शाम
मेरे आगे ही टूट जाती है

……

और एक दिन
गुजर जाता है
मेरे ऊपर से
मेरे भीतर से

मेरे आसपास से
छूता हुआ
कंपाता हुआ
चीरता हुआ —उदयभान मिश्र

व्यक्ति का 'मैं' कितनी असंगतियों के बीच से गुजरता है। उसे यह रूमानी भ्रम नहीं है कि उसे टेरते हैं लोग, या समस्त विसंगति को फूँक देने वाला ज्वालामुखी उसके हाथों में से फूटता है। उसे केवल इतना ही अधिकार रह गया है कि वह अपने को गला कर अपने चारों ओर व्याप्त कर दे—

हमारी हथेलियों में ज्वालामुखी नहीं फूटता है
न ही आँखों में नदी उगती है कोई
हर घाट, हर बाट टेरती बाँहें नहीं हिलती हैं मुझमें
सिर्फ़ एक आँच
एक मर्म का गलाव
एक याद-यह मैं हूँ
जो गलियों, चौराहों, सड़कों. कारखानों,
खेत, खलिहानों, समुन्दर, पहाड़ों में
गलता हूँ
लोहे के दरवाज़ों
लोहे के घरों
लोहे की कुर्सियों पर भी
बिना मौसम फूलता हूँ —नित्यानन्द तिवारी

आज की कविता नयी कविता के उस स्वर का विकास है जो आज की रोजमर्रा जिन्दगी की अनुभूतियों को बड़ी सहजता से अभिव्यक्ति देता है—उन अनुभूतियों को जो पल-पल के अन्तर्विरोध की उपज हैं। ऊपर-ऊपर से ठाट ठाटने वाली आज की शहरी जिन्दगी व्यक्ति को कितना विदेह कर देती है और विदेह होकर भी आज का आदमी दर्द से छुटकारा नहीं पाता और नहीं तो केवल दर्द बन कर रह जाता है—

और तब धीरे-धीरे ज्ञान हुआ
भूल से मैं सिर छोड़ आया हूँ दफ्तर में
हाथ बस में ही टँगे रह गए,
आँखें जरूर फाइलों में ही समा गईं

मुँह टेलीफोन से ही चिपटा-सटा होगा
और पैर, हो-न-हो
क्यू में रह गए हैं
तभी तो मैं आज
घर आया हूँ विदेह ही
देह हीन जीवन की कल्पना तो
भारतीय परम्परा का सार है
पर उसमें क्या यह थकान-भी शामिल है
जो मुझ अगहीन को दबोचे ही जाती है।

—भारतभूषण अग्रवाल

आज की कविता यानी साठ के बाद की कविता को किसी आंदोलन से सम्बद्ध कर रूढ़ कर देने से या तो उसके किसी स्वर को तोड़-मरोड़ कर आन्दोलन के स्वर के अनुकूल सिद्ध करना पड़ेगा या अन्य विविध स्वरों को अस्वीकार करना पड़ेगा। अपने समय के जीवन के विविध क्षेत्रों में उभरते यथार्थों को यथार्थवादी दृष्टि से वाणी देना ही कविता का लक्ष्य है और नयी कविता से प्रारम्भ होने वाली कविता की विशिष्टता भी इसी में है। और आन्दोलन चूँकि आन्दोलन से पैदा हुए हैं इसलिए इनकी परिणति भी होगी आन्दोलन में। इनके लिए कविता का महत्व कम आन्दोलन का महत्व अधिक होता है। रचना से आरम्भ होने वाले आन्दोलन का विकास रचना की ओर होता है और आज की कविता पर विचार करते हुए हमें कविता पर ही विचार करना चाहिये और कविता पर विचार करने वाला इस या उस खेमे का शिकार न होकर वर्तमान जीवन के समग्र-रूप को उभारने वाली कविता पर ही विचार करेगा। आन्दोलनों से सम्बद्ध रचना पर विचार करने पर सबसे बड़ा खतरा इस बात का होता है कि उस आन्दोलन से सम्बद्ध अनेक 'फेक' कवियों की चर्चा तो होती है परन्तु उससे असम्बद्ध जैनुइन कवियों की कविताएँ जो सही अर्थों में आन्दोलन से नहीं जीवन से प्रेरित होती हैं, अचर्चित रह जाती हैं। इसलिए मैंने आज की कविता पर सही ढंग से विचार करने का यही तरीका समझा है—

सागर
उबलता है.......
घरों में

और बादल
बिखर जाते हैं
मैं
हर रंग के उबलते हुए सागर को जानता हूं
और
हर नदी के बिखरते हुए मन को पहचानता हूं
और दबी आंच को छिपाता हूं

—विष्णु चन्द्र शर्मा

कवि हर रंग के उबलते सागर को जानता है और हर नदी के बिखरते हुए मन को पहचानता है। यही आज का कवि होने की सार्थकता भी है।

आज की कविता में एक ओर व्यक्तिगत पीड़ा को या स्थिति की विषमता को व्यक्त करने वाले कवि हैं दूसरी ओर स्थिति की विषमता के विरुद्ध विद्रोह का आक्रोश व्यक्त करने वाले कवि भी हैं। क्रुद्ध और विद्रोही पीढ़ी की कविताएं इस संदर्भ में देखी जा सकती हैं। यह विद्रोह व्यंग्य के रूप में भी है और कहीं सारी विसंगतियों के विरुद्ध उठते हुए ध्वंस के स्वर के रूप में भी।

रिक्शा खींचते, जूते गांठते, घास छीलते
घरों में खटते, फाइलों में जूझते
मेरे जैसे सूखे थके—निचुड़े लोगो,
सफेद झूठ मत बोलना, तुम्हें काले सच की कसम
क्या अब सारी व्यवस्था खुर्राट वेश्या के
सिफलिस सड़े अंग विशेष सी नुची निची
बजबजा नहीं चुकी हैं ?

—केशनी प्रसाद चौरसिया

मुझे लगता है विद्रोही पीढ़ी की कविताएं अधिक तेज धक्का मार और आज के जीवन की सड़ांध को अधिक प्रत्यक्षता से उभारने वाली हैं। 'सोफेस्टिकेटेड' कविता से अलग हट कर तेज तर्रार अनगढ़ रूप में कविता को ले आना आज की आवश्यकता है क्योंकि इसी रूप में आज के बिखरे टूटे विकृत जीवन को वाणी मिल सकती है लेकिन विद्रोही पीढ़ी के कवियों ने कविता और रोजनामचा में फर्क नहीं किया, बिम्बों की जगह विवरण को प्रधानता दी तथा फालतू चीजों के त्याग के स्थान पर उनके संग्रह पर बल दिया। इसीलिए ये शक्ति के बावजूद अच्छी कविता नहीं उभार पाते।

प्रगतिवादी दर्शन में आस्था रखने वाले विजयदेव नारायण साही, आग्नेय और रणजीत की कविताओं में भी सामाजिक जीवन के प्रति विश्वास और असामाजिक तत्वों के विरुद्ध विद्रोह का स्वर है किन्तु यह स्वर सौन्दर्य-बोध का अंश बनकर उभरा है इसलिए उसमें कविता है। आग्नेय की 'जहां सिर्फ मैं हूं' कविता इस सन्दर्भ में देखी जा सकती है :—

मैं नागरिक जीवन के इस सभ्य नगर और
साफ सुधरी जिन्दगी के
बीच से चला जाना चाहता हूं
जहां केवल लोगों की शकलें नही हैं
जहां केवल लोगों के चेहरे नहीं हैं
जहां केवल लोगों की बातें नहीं हैं
जहां केवल बेझिझक सपने हैं
जहां सिर्फ रंग बिरंगी ख्याल हैं। जहाँ सिर्फ मैं हूँ
और लोग हैं मुझे महसूस करते हुए।

—आग्नेय

हिलोरें लेने लगता है मेरे भीतर का पानी
जब भी देखता हूं समंदर की लहरों को उठते और
उमड़ उमड़ उठती है मेरे रक्त में बसी हुई आदिम आग
कुहरीले सवेरों में पूरब से निकलते हुए सूरज के साथ साथ
....

—रणजीत

आज की कविता में वे कवयित्रियां भी आती हैं जिनमें आज की व्यथा अनुभूति के बहुत महीन, सूक्ष्म और संयत स्तर पर उभरी है। नारी होने की अपनी कुछ विवशताएं होती हैं। यह विवशता कवियों की तरह कवयित्रियों को उच्छृंखल या यौन सम्बन्धों की अभिव्यक्ति में अधिक प्रत्यक्ष या सामाजिक विद्रोह के प्रति अधिक अनुभववान तथा सक्रिय नहीं होने देतीं। वे अपने परिवेश के दबाव से महसूस होती हुई पीड़ा के बोध को या सौन्दर्य बोध को अधिक तीव्रता और गहराई से व्यक्त कर सकती हैं। किन्तु आज की कवयत्री महादेवी के समान आवरण नहीं ओढ़ कर चलती। वह यौन विकृतियों और वीभत्स शारीरिक जिघांसाओं में न डूबती हुई भी अपने अनुभव और बोध में नवीन ही है। आज की कवयित्रियों में कान्ता जी का उल्लेख करना चाहूंगा, जिनके दूसरे संग्रह 'समयातीत' में आज की उदासी और अकेलापन बड़े सूक्ष्म संकेतों द्वारा व्यंजित होता है—

घरों को छूता हुआ आकाश
या आकाश की एक पर्त्त ओढ़े हुए घर
कैसे चुपचाप खड़े हैं
मेरे घर की दहलीजें लांघती हुई
छायाओं से तटस्थ, बेलाग
एक भूला हुआ कबूतर
छायाओं की छायाओं से भीत
चीख देता है कभी-कभी
टूट जाता है रात का
गहरा सन्नाटा
आ; मन को काटती हुई मृत्यु
क्षण-भर टूट सकती अगर।

—कांता

दूसरी कवयित्री हैं स्नेहमयी चौधरी। यदि कान्ता जी में आज के नारी-मन की पीड़ा की छायाओं का एक हलका घिराव है, तो स्नेह जी में एक प्रसन्न खुलाव है। कान्ता जी अपने सौन्दर्य-बोध और यातना-बोध को छायाओं से घेरकर सघन बनाती हैं और स्नेह जी उन्हें आसपास फैलाकर अधिक प्रसन्न। किन्तु यह सच है कि बाहर फैलकर भी जलता मैदान ही मिलता है—और पुनः बाहर से भीतर की ओर यात्रा…………

'जहां संकरी गलियां न थीं
सीधा-सपाट मैदान था
दूर तक गर्मी की
सूनी दुपहरियों में
मौन हिलते बृक्ष और
भिन्न-भिन्न आकारों में
घूमता बालू का ढेर था
खुलते हुए रास्तों की
भयंकरता से घबराकर
अब मैं
हर ओर से आंखें मूंद लेना चाहती हूँ।

—स्नेहमयी चौधरी

आज की कविता के क्षेत्र में और भी कई नए महत्वपूर्ण नाम हैं, जिनसे आज की संवेदना और वस्तु-स्थिति खुलती हुई भाषा में अभिव्यक्ति पा रही है। कुछ कविताएं उदाहरणार्थ प्रस्तुत हैं—

धरती ऊँची-नीची
चोटी से लेकर खाई तक का अन्तर मकानों में
समानान्तर कोई पथ नहीं
हर सड़क अकेली है
समय सिर्फ़ गिने-चुने हाथों में बंधा हुआ
घड़ियों में बन्द है।

—रामसेवक श्रीवास्तव

ऋतु और मौसम
दोनों में से किसी एक के भीतर नहीं है मकान,
सिर्फ एक खामोशी के बाहर फिंका गए
मृत पठार पर
लेटा हुआ शहर.............
और मैं शाम के सीकचों को पकड़े हुए
सिर्फ एक अपना लिखता हूँ नाम
हवाओं और पानी पर...........

—चन्द्रकान्त देवताले

उपर्युक्त कविताओं में नागरिक जीवन की यान्त्रिकता, असंपृक्ति और विसंगति का यथार्थ चित्र है। आज की कविता में प्रेम, नारी-सौन्दर्य और प्रकृति-सौन्दर्य के चित्रों का अभाव नहीं है, किन्तु इन्हें देखने की दृष्टि अधिक यथार्थवादी हो गई है। प्रेम और सौन्दर्य अब किसी प्रकार का मोहक भ्रम बनकर मन पर नहीं छाते, वे अनेक प्रकार के भावात्मक आदर्शों से बोझिल बनकर, वायवी नहीं रह जाते, वरन् वे आज के निरन्तर बदलते हुए सामाजिक सम्बन्धों और मूल्यों के कारण अधिक भौतिक, जटिल और प्रत्यक्ष होते जा रहे हैं। यह स्पष्ट है कि केवल शारीरिक भोग या केवल सुन्दर आदर्शों से संपृक्त होकर प्रेम और यौन सम्बन्ध बहुत सीधे सरल हो जाते हैं, किन्तु समाज के सम्बन्धों के जटिल होने पर तथा मनोविज्ञान द्वारा मन के अनेक रहस्यमय सत्यों के उद्घाटित होने पर मानव-मन के सौन्दर्य और प्रेम-मूलक-संवेगों का बहुत जटिल और सूक्ष्म होकर उभरना स्वाभाविक है। वायवी आदर्शों के

नकली आवरण फट जाने के कारण वह जटिलता और सूक्ष्मता अधिक प्रत्यक्ष और भौतिक दिखाई पड़ती है, हमारे तन-मन की वास्तविक आंच में तपती हुई लक्षित होती है। आज का कवि प्रेम, यौन-सम्बन्ध, सौन्दर्य, सबको उनके जटिल और वास्तविक रूप में बिम्बों के सहारे उभारता है—

सारे शहर में एक नेत्रहीन किसे
ढूंढ रहा है, उसके हाथों में सांप की
तरह मुड़ा हुआ एक वाक्य है, उसकी
पीठ पर महुए के फूलों की तरह लाल
रूमाल लदे हैं, उसके सिर में मोर की तरह
शीशे के टुकड़े जड़े हैं, वह किसे ढूंढ रहा है ?

—'ऋतुराज़'

तब मेरे भीतर एक पुरुष जन्म लेता है,
मुझे लगता है
कंधे उग आए
बांहें उकसीं,
फलवती इच्छा के हाथ तब तुम्हें खींच
रेशमी बालों के सोन गुच्छ सहलाते हैं
और उंगलियां गरम हो जाती हैं
तुम्हारे युवा अंगों की रक्त ज्वाला में।

—श्याम परमार

हमारे-तुम्हारे बीच
पुष्प-अग्नि जल रही है लगातार
तुम्हारे सारे चेहरे में है केवल एक तितली,
जिसे मैंने अपने होठों से थाम रखा है
पुष्प-अग्नि।

—सौमित्र मोहन

प्रकृति बिम्ब के रूप में हमारे मनः जगत का अपरिहार्य अंग बन गई है। प्रकृति के बिखरे हुए असम्बद्ध-से दीखने वाले जटिल बिम्ब हमारे मन के जटिल खंडित बोधों को उभारने में बहुत समर्थ होते हैं। ग्रामीण अंचलों में प्रकृति जीवन से दूसरे रूप में जुड़ती है—हां, आज भी वह सामाजिक जीवन का अभाव, समृद्धि, जीवन-मरण बनकर उसके साथ जुड़ी है। परन्तु शहरी

Sri Pratap ... Library SRINAGAR

जीवन में प्रकृति व्यक्ति-मन के खंडित बोधों का बिम्ब बनकर ही उभरती है और इस प्रकार वह एक दूसरे स्तर पर हमारे जीवन के संवेगों और बोधों से जुड़ जाती है—

गाढ़े नीले रंग के बादल का एक टुकड़ा
बड़ी देर से तिर रहा है मेरे हृदय में
दूर ! कहीं दूर !
पुराने छतनार पेड़ काटे जाकर गिर रहे हैं—
हहरा-हहरा कर धड़ाऽम-धड़ाऽम
और यह आवाज
मक्खन की तरह पिघलकर फैलती जा रही है
मुझमें ।

—विश्वनाथ त्रिपाठी

आज की कविता के क्षेत्र में और भी कई नाम हैं, जिनसे आज की संवेदना और वस्तुस्थिति खुलती हुई भाषा में सशक्त अभिव्यक्ति पा रही है। विजेन्द्र, कमलेश, दूधनाथ सिंह, रमेश गौड़, इन्दु जैन, धूमिल, डा० विनय, देवेन्द्र कुमार, पद्मधर त्रिपाठी, 'शलभ' आदि के नाम उल्लेखनीय है। वैसे अनेक छोटी-छोटी नई पत्रिकाएं निकल रही हैं और उनमें अनेक नाम आ रहे हैं किन्तु एक तो मैं मानता हूँ कि आज की कविता 'नयी कविता' से विच्छिन्न नहीं, उसकी ही तीखी चेतना का विकास है (और 'नयी कविता' और साठ के बाद की कविता, दोनों के कवि आज की कविता लिख रहे हैं), दूसरे आखिर इस नएपन की चर्चा के बावजूद, कविता की चर्चा कविता की ही दृष्टि से होनी है और अनेक आन्दोलनों और नए-नए नामों की हलचलों के भीतर से कविता के साथ स्पष्टता से उभरनेवाले नामों की अभी और प्रतीक्षा करना कुछ बुरा नहीं है।

हमारे नये प्रकाशन

32794

★ **हिन्दी कविता : तीन दशक** डा० रामदरश मिश्र मूल्य १२.५०

छायावाद के पश्चात हिन्दी कविता की नयी यात्राओं का सही मूल्यांकन चिन्तन, दृष्टि, भावबोध, शिल्प और अनुभूति के क्षेत्रों में कविता के क्रान्तिकारी रूप की समर्थ विवेचना। १९३८ से १९६८ तक के हिन्दी काव्य का पर्यालोचन।

★ **काव्य-बिम्ब और छायावाद** डा० सुरेन्द्र माथुर मूल्य १५.००

प्रसाद, पन्त, निराला, महादेवी और डा० रामकुमार वर्मा के काव्य की काव्य-बिम्ब की दृष्टि से समीक्षा।

★ **समसामयिक हिन्दी निबंध** श्री ज्ञानेन्द्र वर्मा मूल्य १०.००

शुक्लोत्तर हिन्दी-निबन्ध का अनुसंधानात्मक विवेचन। गुलाबराय, माखन लाल चतुर्वेदी, जैनेन्द्र, शान्तिप्रिय द्विवेदी, नन्ददुलारे वाजपेयी, हजारीप्रसाद द्विवेदी, महादेवी वर्मा, डा० नगेन्द्र, डा० रामविलास शर्मा, विद्यानिवास मिश्र और आज के अनेक निबन्धकारों के कृतित्व का समीक्षात्मक अध्ययन-

★ **गद्यकार महादेवी वर्मा** सं० डा० वीरेन्द्रकुमार बड़सूवाला १२.५०

महादेवी वर्मा के गद्य ग्रन्थों पर विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे गये लेखों का अभिनव संग्रह

★ **सूर के दार्शनिक विचार** डा० नारायणप्रसाद वाजपेयी मूल्य ४.००

महाकवि सूर के दार्शनिक विचारों पर की गई नव्य समीक्षा

★ **रामनरेश त्रिपाठी का काव्य** कृष्णदत्त पालीवाल मूल्य १२.५०

कविवर रामनरेश त्रिपाठी पर अभिनव आलोचनात्मक अध्ययन।

★ **निषेध** सं० जगदीश चतुर्वेदी मूल्य १०-००

अभिनव काव्य की दिशा में चौदह नये कवियों का एक और संग्रह— समसामयिक काव्य-धारा का एक मात्र प्रतिनिधि संकलन।